निबंध निचय

विजयेन्द्र स्नातक — बलराज महाजन

निबंध-निचय

[दिल्ली विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा के लिए स्वीकृत निबंधों का प्रामाणिक संकलन]

सम्पादक :

विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०

हिन्दी-प्राध्यापक, रामजस कॉलेज, दिल्ली।

बलराज महाजन एम० ए०

हिन्दी-प्राध्यापक, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली।
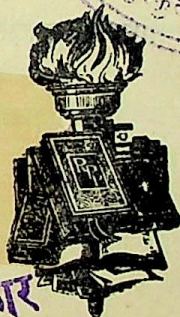
देहली

रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स

प्रकाशकः—
रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स,
४८७२, चांदनी चौक,
देहली।

पहली बार १९५३

मूल्य ढाई रुपये

मुद्रक—
युगान्तर प्रेस,
डफ़रिन पुल,
दिल्ली।

दो शब्द

हिन्दी गद्य-साहित्य के प्रवर्तन काल से लेकर आजतक हिन्दी में निबंध-रचना के नाम से विपुल साहित्य-सृजन हुआ है। भारतेन्दु-युग से वर्तमान-काल तक कलात्मक तथा तथ्यनिरूपक (वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक) दोनों ही कोटि के निबन्धों की भरमार रही है। पूरी एक शताब्दी के इस विशाल काल में से उपयुक्त रचनाओं को छाँट लेना सहज नहीं। किन्तु जब से विभिन्न विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में हिन्दी-निबन्ध-साहित्य को पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त होने लगा है, तब से यह आवश्यक हो गया है कि प्रत्येक युग की भाषा-शैली, विचार-धारा और अभिव्यक्ति का परिचय देने वाले कतिपय प्रतिनिधि लेखकों की श्रेष्ठतम रचनाओं को पाठ्य-पुस्तकों में संकलित किया जाय। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग ने बी० ए० कक्षा के लिये पाठ्यक्रम निर्धारित करते हुए दस प्रतिनिधि लेखकों के निबन्ध स्वीकृत किये हैं। हमने अपने इस संकलन में उन्हीं दस निबन्धों को स्थान दिया है। सम्पादन करते समय हमारा यह प्रयत्न रहा है कि यथासम्भव निबन्धों का प्रामाणिक पाठ हम दे सकें और उनका मुद्रण निर्दोष हो सके। कलात्मक निबन्ध ही साहित्यिक दृष्टि से 'विशुद्ध निबन्ध' कहे जाते हैं अतः इस संकलन में वैज्ञानिक या वस्तुनिष्ठ निबन्धों को स्थान नहीं दिया है।

भारतेन्दु-युग में निबन्ध-साहित्य का सूत्रपात हुआ और उनके समय में ही निबन्ध-साहित्य की सर्वाधिक रचना हुई। फिर भी हमने उस काल के एक ही प्रतिनिधि लेखक को इस संग्रह में रखा है। इसका एक कारण यह है कि उच्च-कक्षाओं की दृष्टि से उस काल के निबंधों में गम्भीरता और विषय-वस्तु की प्रौढ़ता का अभाव है। द्विवेदी-युग के तीन लेखक हैं। आचार्य शुक्ल प्रौढ़ता काल के प्रमुख

प्रवर्त्तक और सिद्ध-लेखक हैं। शेष लेखकों को हम वर्तमान काल की निबंध-परम्परा के जागरूक प्रहरी और प्रतिनिधि कह सकते हैं। निस्सन्देह श्री प्रतापनारायण मिश्र (भारतेन्दु-युग) और श्री बालमुकुन्द गुप्त (द्विवेदी-युग) अपनी मौलिकता, सजीवता और भाव व्यंजकता की दृष्टि से हिन्दी निबंध-साहित्य के विधायकों में हैं किन्तु पाठ्य-पुस्तक के सीमित कलेवर को ध्यान में रखकर उन्हें स्थान नहीं दिया है।

पुस्तक को उपयोगी बनाने के लिए, सम्पादक के दायित्व को ध्यान में रखकर, प्रारम्भ में निबंध-साहित्य का परिचय देने वाली एक भूमिका दी गई है। भूमिका के पूर्वार्द्ध में निबंध की परिभाषा, व्युत्पत्ति, अर्थ, क्षेत्र, प्रकार आदि पर विचार किया गया है और उत्तरार्द्ध में हिन्दी निबंध-साहित्य का क्रमिक-विकास तथा संक्षिप्त इतिवृत्त है। भूमिका लिखते समय इस कक्षा के छात्रों की आवश्यकता का प्रमुख रूप से ध्यान रखा है।

प्रत्येक निबंध के पहले उसके लेखक का संक्षिप्त जीवन-वृत्त देकर उसकी लेखन-शैली पर आलोचनात्मक पद्धति से प्रकाश डाला गया है। निबंध का सारांश भी सरलतम शब्दों में व्यक्त कर दिया है ताकि छात्रों को उस निबंध का प्रतिपाद्य मूल-तत्व विदित हो सके।

जिन विद्वान् लेखकों की अमूल्य रचनाओं को हमने इस संग्रह में स्थान दिया है, उनके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यदि उनकी स्वीकृति हमें उपलब्ध न होती तो हमारे लिए इस रूप में संकलन को प्रकाशित करना असम्भव था।

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली
१५ जुलाई, १९५३

—सम्पादक

अनुक्रम

भूमिका

निबन्ध की परिभाषा तथा हिन्दी निबन्ध-साहित्य का विकास

'निबन्ध' शब्द के आधुनिक अर्थ के विकास में दो विभिन्न परंपराओं ने योग दिया है। इनमें से एक तो निबन्ध शब्द की भारतीय परंपरा है तथा दूसरी है 'ऐस्से' (Essay) शब्द की यूरोपीय परम्परा। संस्कृत साहित्य में शताब्दियों तक निबंध शब्द का अर्थ विकसित और परिवर्तित होता रहा। जब हिन्दी ने इस शब्द को ग्रहण किया तो यूरोपीय साहित्य के प्रभाव के कारण इसके अर्थ में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। इस अर्थ-परिवर्तन और अर्थ-विकास को ठीक तरह समझ लेना आवश्यक है तभी हम इस महत्वपूर्ण शब्द की सर्वाङ्गीण परिभाषा कर सकेंगे तथा इस शब्द से सूचित होने वाले साहित्य की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।

व्युत्पत्ति तथा अर्थ—

सर्वप्रथम हमें निबंध शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना है। 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'बन्ध्' धातु से निबंध शब्द बनता है। 'बन्ध्' का मूल अर्थ है 'बाँधना'; तथा 'नि' का अर्थ है 'निःशेष, नितरां, बहुत'। अतः निबंध का अर्थ हुआ—"अच्छी तरह बाँधने की क्रिया या भाव" अथवा जिसमें विशेष रूप से बन्ध या संगठन हो।"

किसी शब्द के अर्थ को समझने के लिए व्युत्पत्ति के अतिरिक्त उसका प्रयोग भी सहायक होता है। इन दोनों में प्रयोग का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। व्युत्पत्ति तो किसी शब्द के अर्थ का आकार या ढाँचा-मात्र तैयार करती है। उस आकार में रंग भर कर पूर्ण चित्र तैयार करना, उसमें जीवन फूँकना, प्रयोग का काम है। अनेक प्रकार के प्रभावों के कारण परिवर्तित तथा विकसित होने वाला किसी शब्द का

अर्थ व्यवहार और प्रयोग द्वारा अपने इर्द-गिर्द अनेक सूक्ष्म अर्थों को या एक प्रकार के वातावरण को समेट लेता है। अतः केवल व्याकरण और शब्दकोश की सहायता से हम किसी शब्द के अर्थ को ठीक-ठीक नहीं जान सकते। इसके लिए हमें उस शब्द के प्रयोग और व्यवहार-परक इतिहास को जानना अनिवार्य है।

प्रयोग और प्रचलन की दृष्टि से निबंध शब्द का इतिहास अत्यन्त मनोरंजक है। हिन्दी भाषा उस प्राचीन संस्कृत भाषा की ज्येष्ठ पुत्री है जिसकी साहित्यिक परंपरा आज से कम-से-कम ३५०० वर्ष पीछे तक पहुँचती है। अपनी माता से उसे जहाँ और बहुत सी संपत्ति मिली है वहाँ 'निबंध' शब्द भी उसी से प्राप्त हुआ है।

संस्कृत साहित्य में निबंध शब्द का प्रयोग आदि-काव्य रामायण या उससे भी पहले से लेकर आधुनिक समय तक होता आया है। परन्तु इसका अर्थ सदा एक ही नहीं रहा। यदि निबंध के प्राचीनतम और आधुनिकतम अर्थों की परस्पर तुलना की जाय तो शायद उनमें कुछ भी साम्य दिखाई नहीं देगा—एक ही प्रकार से लिखे और बोले जाने पर भी वे दोनों सर्वथा भिन्न शब्द से प्रतीत होंगे। प्रयोग और प्रचलन के कारण ही अर्थों में इतना अधिक परिवर्तन हुआ है।

भारत में लिपि का आविष्कार आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु काग़ज़ उस समय तक नहीं बना था। लिखने के लिए प्रायः भोजपत्रों से काम लिया जाता था। जब कोई ग्रंथ भोजपत्रों पर लिखा जा चुकता था तब उन पन्नों को बाँध और सँवार कर सी दिया जाता था। इस बाँधने, सीने आदि की क्रिया को निबंधन, प्रबंधन या ग्रंथन कहा जाता था। इन क्रियाओं से निबंध, प्रबंध और ग्रंथ—ये संज्ञाएँ सिद्ध होती हैं, और इसी कारण ये तीनों शब्द कभी समानार्थक थे।

समय बीतता गया। ग्रन्थ शब्द अपने पुराने अर्थ के साथ चिपटा रहा। आज भी ग्रन्थ का वही पुराना अर्थ है—अर्थात् पोथी या पुस्तक—

यद्यपि अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप ग्रन्थ-निर्माण की विधि अब बिल्कुल ही दूसरी हो गई है। परन्तु ग्रन्थ शब्द के दूसरे साथियों, निबंध और प्रबंध ने विकास की आश्चर्यजनक शक्ति का परिचय दिया है। इनके अर्थ-विकास की पहली सीढ़ी वह थी जब इन्हें रचना के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। किसी भी साहित्यिक रचना को प्रबंध अथवा निबंध कह दिया जाता था। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरित-मानस' की भूमिका में निबंध शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। गोस्वामी जी कहते हैं—

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।

यहाँ 'भाषानिबन्ध' से भाषा अर्थात् हिन्दी में की गई (बांधी गई) रचना अभिप्रेत है। निबंध के इस अर्थ में न तो कोई अस्वाभाविकता है और न मूल अर्थ से किसी प्रकार का विच्छेद है। रचना करते समय भी तो शब्दों को, शैली के धागे से, परस्पर जोड़ा या बाँधा जाता है; रचना में भी तो एक प्रकार का बन्धन रहता है।

यहाँ तक निबंध और प्रबंध शब्द साथ-साथ चलते रहे, परन्तु इसके बाद उनके विकास की दिशा अलग-अलग हो गई—अपनी अन्तर्निहित विशेषताओं के कारण वे भिन्न अर्थों के द्योतक हुए। प्रबन्ध शब्द ने एक तो अपने पुराने अर्थ रचना को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा (आज भी वह इस अर्थ में प्रयुक्त होता है); इसके साथ ही वह एक विशेष प्रकार के काव्य का द्योतक भी बना। इस अर्थ में प्रबंध का विपरीतार्थक शब्द 'मुक्तक' है। परन्तु निबंध शब्द एक विशेष प्रकार की गद्य-रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा—"जिसमें तर्क के सहारे से, शास्त्रीय और विश्लेषणात्मक रीति को अपनाकर, किसी विषय का प्रतिपादन किया गया हो।" अब निबंध के मूल में स्थित 'बन्ध्', धातु तथा 'नि' उपसर्ग ने अपना वास्तविक रंग दिखाया और खुलकर अपने अर्थों का विस्तार

किया। निबंध शब्द इस प्रकार की बौद्धिक विशेषता से युक्त, खूब गठी हुई और सुसंबद्ध रचनाओं के लिए प्रयुक्त होकर पहली बार पूर्णतया सार्थक हुआ।

'निबंध' और 'ऐस्से'—

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में गद्य का रूप निश्चित हुआ। उस समय गद्य-साहित्य अनेक धाराओं में प्रवाहित हुआ, जिनमें से एक धारा निबंध की भी थी। निबंध शब्द के विकास को हमने ऊपर जिस स्थल पर छोड़ा है उससे आगे वह बहुत शताब्दियों तक नहीं बढ़ सका था। परन्तु भारतीय साहित्य और अँगरेज़ी साहित्य के परस्पर सम्पर्क से इस शब्द ने सहसा एक नये अर्थ को ग्रहण किया—मानो किसी पुराने शरीर में नई आत्मा ने प्रवेश किया हो। इस शब्द में पश्चिम के 'ऐस्से' शब्द की शताब्दियों पुरानी, अति विकसित और विकासशील परम्परा आ मिली जो इसके आश्चर्यजनक कायापलट का कारण बनी।

परन्तु हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि एक ही क्षण में 'निबंध' और 'ऐस्से' शब्द पर्यायवाची हो गये। इन्हें समानार्थक बनने में पर्याप्त समय लगा है और भाषाओं की आदान-प्रदान की प्रवृत्ति ने इस सिद्धि में योग दिया है। स्मरण रहे कि अपने शाब्दिक और प्रारम्भिक अर्थों में 'निबंध' तथा ऐस्से' शब्दों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जहाँ निबंध शब्द अपने मूल अर्थ में बौद्धिक विश्लेषण और निर्वैयक्तिक तथा सुसंबद्ध शैली का द्योतक है, वहाँ 'ऐस्से' शब्द अपने मूल अर्थ 'प्रयास' का सहारा लेकर अपूर्णता, असंबद्धता और विशृंखलता की ओर प्रवृत्ति दिखाता रहा। यूरोप के आदि निबंधकार फ्रांस-देशोत्पन्न मौन्टेन के निबन्धों में 'ऐस्से' के ये गुण (या अवगुण !) उसकी अन्य विशेषताओं—व्यक्तित्व और आत्मीयता आदि—के साथ विद्यमान हैं।

यहाँ तक तो यदि निबंध को उत्तरी ध्रुव कहें तो 'ऐस्से' को निःसन्देह दक्षिणी ध्रुव कहना पड़ेगा। परन्तु इन दोनों ध्रुवों ने भूमध्यरेखा की

ओर बढ़ना आरम्भ किया और एक-दूसरे के निकट पहुँचकर परस्पर मिल गये।

मौन्टेन के निबन्धों को ही ध्यान में रखकर अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० जॉनसन ने 'ऐस्से' की परिभाषा इस प्रकार की थी—

"A loose sally of the mind, an irregular, undigested piece, not a regular and orderly performance." अर्थात् "मन के स्वच्छन्द विचरण से उद्भूत, अनियमित असम्बद्ध रचना, न कि क्रमबद्ध तथा सुसंबद्ध कृति।"

परन्तु शीघ्र ही निबन्ध के इस रूप के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इससे बहुत पहले अँगरेज़ निबन्धकार बेकन (जो मौन्टेन का प्रायः समसामयिक था और उसके निबन्धों से प्रभावित भी हुआ था) ऐसे निबंधों की रचना कर चुका था जिनमें बुद्धितत्त्व की प्रधानता थी। डा० जॉनसन के बाद निबंधकारों तथा निबंध के आलोचकों का इस तत्त्व की ओर विशेष ध्यान गया। धीरे-धीरे ढीलेपन और विशृंखलता को अच्छे 'ऐस्से' का गुण न मानकर दोष समझा जाने लगा। इस बदले हुए वातावरण का पता 'आक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' में दी गई निबन्ध की निम्नोद्धत परिभाषा से मिल सकता है—

"A composition of moderate length on any particular subject; originally implying want of finish...but now said of a composition more or less eleborate in style, though limited in range." अर्थात् "किसी निश्चित विषय पर न अति विस्तृत न अति संक्षिप्त रचना ; अपने मूल अर्थ में यह शब्द अपूर्णता का द्योतक था ....परन्तु अब इस शब्द से ऐसी रचना अभिप्रेत है जिसमें विषय का विवेचन एक निश्चित सीमा के भीतर थोड़ी-बहुत विशदता के साथ किया गया हो।"

इधर हमारे देश में निबंध अपने मूल अर्थ से उत्पन्न शैली के लौह-आच्छद और कठोर नियंत्रण से मुक्त होकर तथा स्वच्छन्दता का वातावरण पाकर तेज़ी से विकसित होने लगा। जहाँ 'ऐस्से' ने निबंध की सम्बद्धता और एकसूत्रता लेली वहाँ निबंध ने 'ऐस्से' से स्वच्छन्दता, व्यक्तिगत दृष्टिकोण और आत्मीयता के तत्त्वों को ग्रहण किया। पूर्व और पश्चिम का यह आश्चर्यजनक परन्तु सर्वथा वाञ्छनीय मिलन था।

निबंध के दो छोर—

निबंध साहित्य की धारा, किसी भौतिक जलधारा के समान, दो छोरों के भीतर प्रवाहित हो रही है। संस्कृत का निबंध-साहित्य इसका एक छोर है, तो मौन्टेन के 'ऐस्से' दूसरा। एक में बौद्धिक तत्त्व की प्रधानता है, तो दूसरे में भाव-तत्त्व की ; एक में विश्लेषणात्मक ढंग से विषयपरक शैली में विषय का विवेचन है, तो दूसरे में लेखक के दृष्टिकोण में रंगकर, ढीली-ढाली, हल्की-फुल्की शैली में, विषय को प्रस्तुत किया जाता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण एक को 'परिबंध निबंध' तथा दूसरे को 'निर्बंध निबंध' का नाम दिया गया है। निबंधकारों की व्यक्तिगत विशेषताओं और प्रवृत्तियों के कारण निबंध की धारा कभी एक छोर की ओर, कभी दूसरे छोर की ओर अधिक झुक जाती है ; परन्तु प्रायः वह मध्यभूमि में ही बहती है। आधुनिक निबंध-साहित्य में, जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, दोनों प्रकार के गुण विद्यमान हैं। ऊपर से दीखने वाली विशृंखलता के भीतर सन्निहित एकसूत्रता उसे निबंध कहलाने का अधिकार देती है तो लेखक का व्यक्तित्व और वार्तालाप के ढंग की शैली उसे 'ऐस्से' का रूप देती है। अतः निबंध और 'ऐस्से'—ये दोनों नाम उस साहित्यिक विधा के लिए सार्थक हैं।

निबंधों का विस्तार तथा वैविध्य—

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना उचित होगा कि निबंध नाम

से साहित्य की जो विधा प्रख्यात है उसकी सीमाएँ उतनी स्पष्ट नहीं हैं जितनी महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, गीतिकाव्य आदि अन्य विधाओं की। निबंध कहलाने वाली रचनाओं में इतना वैविध्य है कि उनमें सामान्य गुणों को ढूँढ़ना बहुत कठिन हो जाता है। प्रायः निबंध को गद्य रचना माना जाता है, परन्तु पद्य-बद्ध निबंध भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए अँगरेज़ी में पोप के 'दि ऐस्से ऑन मैन' तथा हिंदी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हे कविते' शीर्षक कविता का नाम लिया जा सकता है। निबंध के साथ संक्षिप्तता का भाव भी प्रायः जुड़ा रहता है। परन्तु अँगरेज़ी में लॉक (Locke) का "ऐन ऐस्से कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग" (मानवीय बुद्धि पर निबंध) चार-पाँच सौ पृष्ठ की रचना है। तीसरी प्रचलित कल्पना निबंध के सम्बन्ध में यह है कि उसमें किसी विषय का प्रतिपादन पूर्णता के साथ तथा विश्लेषणात्मक ढङ्ग से नहीं किया जा सकता। परन्तु शास्त्रीय एवं आलोचनात्मक विषयों पर लिखे गये निबन्ध इस नियम का अपवाद हैं।

बात वास्तव में यह है कि साहित्यभूमि के अन्तर्गत निबंध-क्षेत्र सामान्य भूमि-खण्ड के समान है—जिसमें वे समस्त साहित्यिक रचनाएँ नि:संकोच प्रवेश कर जाती हैं जिन्हें किसी और साहित्यिक विधा के क्षेत्र में स्थान नहीं मिलता। इसीलिए निबंधों में हमें इतने वैविध्य का दर्शन होता है। निबंध के लिए चुने जाने वाले विषयों की कोई सीमा नहीं, तो वे शैलियाँ भी अनन्त हैं जो उन विषयों के प्रतिपादन के लिए प्रयोग में आती हैं। 'कुछ नहीं' से लेकर 'आत्मा की अमरता' तक और परमाणु से लेकर विशाल सृष्टि तक निबंध के विषयों का विस्तार है। यदि कोई लेखक विषय-प्रधान शैली को अपनाता है तो कोई व्यक्ति-प्रधान शैली को ; कोई गंभीरतापूर्वक लिखता है तो कोई विनोद की धारा बहा देता है ; कोई तर्क का आधार लेता है तो कोई व्यंग्य के मर्मवेधी बाण छोड़ता है। फलतः निबन्ध के सर्वसम्मत रूप

का निर्णय कर सकना सरल नहीं है।

'शुद्ध' निबंध—

ऐसी स्थिति में इस विस्तृत और उलझे हुए जंगल में से मार्ग बने तो कैसे ? इस कठिनाई का हल 'हू वाकर' ने अपनी पुस्तक 'दि इंग्लिश ऐस्से एण्ड ऐस्सेइस्ट्स' में प्रस्तुत किया है। उसका सुझाव है कि निबंध कहलाने वाली सभी रचनाओं में से निबंध के अपेक्षित गुणों से युक्त रचनाओं को छाँटकर पृथक् कोटि में रख दिया जाय और उसे 'शुद्ध निबंध' (Essay par excellence) का नाम दिया जाय। इस केन्द्रीय निबंध-साहित्य (Essays of the centre) के समीप निबंध-नाम-धारी अवशिष्ट साहित्य को सजा दिया जाता है।

हमने निबन्ध के दो छोरों की बात पहले कही है। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अधिकांश आलोचकों की सम्मति में जहाँ संस्कृत का तथाकथित निबन्ध-साहित्य अपनी नीरसता के कारण ललित साहित्य में कठिनाई से स्थान पा सकता है, वहाँ मौन्टेन के व्यक्ति-प्रधान निबन्ध ही आदर्श निबन्धों के नमूनों के तौर पर पेश किये जा सकते हैं। अतः शुद्ध निबन्ध-साहित्य में उन्हें सर्वप्रथम स्थान मिलेगा।

निबन्ध के तत्त्व—

वे कौनसी विशेषताएँ हैं जो शुद्ध निबन्धों की कोटि में आने वाले निबन्ध में अनिवार्य रूप से होनी चाहिएँ ? दूसरे शब्दों में निबन्ध के तत्त्व क्या हैं ?

जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है, निबन्ध में अन्तर्निहित "एकसूत्रता" का रहना परम आवश्यक है। ऊपरी दृष्टि से किसी निबन्ध में वर्णित बातें एक दूसरे से कितनी भी असंबद्ध क्यों न लगें, परन्तु उस अनेकता में एकता छिपी होनी चाहिए। इस विषय में निबन्ध की तुलना प्रगीत मुक्तक से की जा सकती है। इस प्रकार की कविता का उद्भव हृदय के किसी भाव के कारण होता है, वही भाव उस कविता में आरम्भ से अन्त तक समाया रहता है और उसे एकता प्रदान करता

है। ठीक इसी तरह निबन्धकार के हृदय में जब किसी भाव का उदय होता है तब उसकी अभिव्यक्ति होते समय नाना प्रकार के संबंधित भाव उस केन्द्रीय भाव के इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाते हैं। एक केन्द्र-बिन्दु से किसी निबन्ध के सारे कलेवर के क्रमशः उद्घाटित होने की प्रक्रिया को एक विद्वान् लेखक ने रेशम के कीड़े के गिर्द कोवे के निर्माण की प्रक्रिया से उपमा दी है, जो बहुत उपयुक्त जान पड़ती है।

निबन्ध की दूसरी विशेषता उस पर लेखक के "व्यक्तित्व की छाप" का होना है। विषय कोई भी हो, वह लेखक के व्यक्तित्व से अवश्य प्रभावित होना चाहिए। हम निबन्ध को जानकारी बढ़ाने के लिए ही नहीं पढ़ते वरन् काव्य-रस के आस्वादन के लिए भी पढ़ते हैं, और उस रसात्मकता का मूलस्रोत है लेखक का व्यक्तित्व और उसका विशिष्ट दृष्टिकोण। किसी शीर्षक के अन्तर्गत क्या लिखा गया है यह उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना यह कि लेखक अपनी बात को किस ढंग से कहता है। निबन्ध का तीसरा प्रमुख तत्त्व "कलात्मकता" कहा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत भाषा-शैली और विषय-वस्तु के परिमित और अभीप्सित विस्तार को रखा जा सकता है। भाषा की प्रांजलता केवल समृद्ध शब्दों के प्रयोग से ही नहीं आँकी जाती वरन् उसके लिये टकसाली शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा व्यावहारिकता का होना भी आवश्यक है। निबन्ध एक कलात्मक कृति है अतः उसकी भाषा में वह शक्ति होनी चाहिए जो पाठक को आनन्द की अनुभूति कराती है। इसके अतिरिक्त विषय-वस्तु के आकार-प्रकार की दृष्टि से प्रत्येक कलात्मक कृति के समान निबन्ध, संक्षिप्त होने पर भी, अपने आप में पूर्ण होना चाहिए। निबन्ध-कार को एक सीमित आकार के भीतर एक निश्चित उद्देश्य की ओर बढ़ना चाहिए और निबन्ध के समाप्त होने के साथ अपने उद्दिष्ट स्थान पर उसे पहुँच जाना चाहिए। जिस प्रकार किसी उपन्यास के एक परि-च्छेद को आख्यायिका का नाम नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार किसी दार्शनिक ग्रन्थ के एक अध्याय को निबन्ध-संज्ञा कदापि नहीं मिल सकती।

निबन्ध का चौथा तत्व है आत्मीयता का गुण। ऊपर लिखे निबन्ध के दूसरे तत्व अर्थात् लेखक के व्यक्तित्व से यह गुण निस्सरित होता है। प्रधानता लेखक की है, न कि विषय की। निबन्ध का विषय लेखक की कल्पना का नियंत्रण नहीं करता, लेखक की कल्पना विषय को अपने ढंग से चलाती है। निबन्ध-लेखन और शास्त्रीय विवेचन में जो अन्तर है उसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। निबन्धकार को किसी विषय के विश्लेषणात्मक विवेचन से सन्तोष नहीं हो सकता। वह तो अपने व्यक्तित्व को अपने निबन्ध में निमज्जित कर देता है और इस प्रक्रिया से वह अपने पाठकों के साथ आत्मीयता का एक अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। अंग्रेज निबन्धकार चार्ल्स लैंब ने, जिसे बाबू श्यामसुन्दर दास ने मौन्टेन का अंग्रेजी विकास कहा है, एक स्थल पर लिखा है कि मैं अपने निबंधों में अपने पाठकों के साथ वार्तालाप करता हूँ। शैली की यह अनौपचारिकता ही मुख्य रूप से निबन्ध को गद्य की अन्य मिलती-जुलती विधाओं से पृथक् करती है। शुद्ध निबन्धों में लेखक का पाठक के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

निबन्ध की परिभाषा—

निबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति, उसके इतिहास, उसके प्रयोग तथा उसके तत्त्वों का जो विवेचन ऊपर किया गया है उसके आधार पर हम निबंध की परिभाषा बाबू गुलाब राय जी के शब्दों में, इस प्रकार कर सकते हैं—

"निबंध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता, तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।"

निबन्ध, प्रबन्ध, लेख, रचना तथा गद्य-विधान—

निबन्ध के अर्थ को और भी स्पष्टता के साथ समझने के लिए उसकी

तुलना उससे मिलते-जुलते अर्थों को प्रकट करने वाले कुछ अन्य शब्दों के साथ की जानी चाहिए। हम ऊपर इस बात की विस्तारपूर्वक चर्चा कर चुके हैं कि किस प्रकार संस्कृत का 'निबन्ध' और इंग्लिश का 'ऐस्से' शब्द अपने मौलिक और प्रारम्भिक अर्थों में एक-दूसरे से अतिशय भिन्न होते हुए भी, विकास की अनेक मंज़िलें पार करके, आधुनिक काल में एक-दूसरे के निकट पहुँच गये हैं तथा आज एक-दूसरे के पर्यायवाची माने जाते हैं।

निबन्ध और प्रबन्ध के परस्पर सम्बन्धों की भी ऐतिहासिक चर्चा हम कर चुके हैं। निबंध और ऐस्से जहाँ क्रमशः एक-दूसरे के निकट आये हैं, निबन्ध और प्रबन्ध एक-दूसरे से हटते गये हैं। एक समय था जब ये समानार्थक थे, परन्तु इनके बीच भिन्नता की खाई उत्पन्न हुई जो धीरे-धीरे अधिक विस्तृत होती गई। प्रबन्ध का प्रयोग एक विशेष प्रकार की आख्यान-परक काव्य-रचना के अर्थों में होने लगा। कथा-काव्य होने के कारण रामचरितमानस प्रबन्ध काव्य कहलाता है, जब कि फुटकर दोहों में लिखी बिहारी की सतसई मुक्तक काव्य कहलाती है। उधर निबन्ध, गद्य में की जाने वाली विश्लेषणात्मक तथा विचारात्मक रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा। जिस समय निबन्ध ने ऐस्से का रूप धारण किया, प्रबन्ध शब्द एक बार फिर उसके निकट आ गया। जहाँ निबन्ध का प्रयोग व्यक्ति-प्रधान रचनाओं के लिए सीमित हुआ, वहाँ ऐसी रचनाओं को जो प्राचीन संस्कृत निबन्धों की-सी शैली में लिखी जाती थीं प्रबन्ध कहा जाने लगा। अतः आज हम प्रबन्ध शब्द का प्रयोग ऐसी गद्य-रचना के लिए करते हैं जिसमें विषय का प्रतिपादन निबन्ध की अपेक्षा अधिक नियमित ढंग और पूर्णता एवं विस्तार के साथ किया गया हो और जिसमें निबन्ध के मुख्य गुणों, व्यक्तित्व तथा आत्मीयता का अभाव हो। अँगरेज़ी में इस अर्थ में 'थीसिस' (Thesis) अथवा 'ट्रिटाइज़' (Treatise) शब्दों का प्रयोग होता है। प्रबन्ध की सीमा-मर्यादा विशद-व्यापक होती है। निबन्ध की तरह उसमें आत्मीयता, व्यक्तित्व और

एकसूत्रता का कठोरता से परिपालन नहीं होता—वैज्ञानिकता के साथ तर्क, युक्ति, प्रमाण आदि की ऊहापोह से प्रबन्धात्मक गद्य-रचनाएँ भरी होती हैं। यही उनकी विशेषता है। गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक दीर्घकाय निबन्धों को ही प्रबन्ध संज्ञा प्राप्त होती है।

निबंध और लेख का अंतर भी कुछ इसी प्रकार का है। लेख 'थीसिस' और 'ट्रिटाइज़' के समान ही विषय-प्रधान रचना होती है जिसमें निबंध की मौलिक विशेषताओं का अभाव रहता है, परन्तु वह संक्षिप्तता के कारण इन दो से दूर और निबंध के निकट आता है। लेख में, एक निश्चित सीमा के अन्दर, किसी विषय पर क्रम-बद्ध ढंग से विचारों को प्रकट किया जाता है। अधिक महत्त्व शैली का न होकर प्रतिपादित विषय का होता है, यद्यपि शैली तत्त्व का उसमें सर्वथा अभाव नहीं होता है। अँगरेज़ी में इसके लिए 'आर्टिकल' (Article) शब्द का प्रयोग होता है।

'रचना' शब्द भी, जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, प्राचीन समय में निबंध और प्रबंध से भिन्न अर्थ नहीं रखता था, दोनों ही साहित्यिक रचना के अर्थों में प्रयुक्त होते थे। आज रचना शब्द तो उसी पुराने अर्थ का द्योतक है जब कि अन्य दोनों शब्दों ने नये अर्थों को ग्रहण कर लिया है। रचना का क्षेत्र निबंध की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत है। कुछ शब्दों को जोड़कर वाक्य का निर्माण करने से ले कर गद्य अथवा पद्य में छोटी-बड़ी किसी प्रकार की भी कृति को रचना का नाम दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वाक्य-निर्माण, कविता-निर्माण, ग्रन्थ-निर्माण आदि की क्रिया को भी रचना कह देते हैं। इस प्रकार निबंध को साहित्यिक रचना का एक विशेष प्रकार कह सकते हैं। अँगरेज़ी में रचना का समानार्थक शब्द 'कम्पोज़ीशन' (Composition) है।

गद्यविधान, निबंध और रचना के बीच की वस्तु है—इसका अर्थ निबंध से अधिक व्यापक परन्तु रचना की अपेक्षा संकुचित है। गद्य में की गई किसी प्रकार की रचना को भी गद्य-विधान का नाम दिया जा

सकता है। निबंध, प्रबंध, लेख, गद्य-गीत आदि सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

संक्षेप में, इस विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि निबंध की अपनी पृथक् साहित्यिक विधा है जो अन्य सभी साहित्यिक विधाओं से भिन्न है और जिसकी अपनी विशेषताएँ तथा सीमाएँ हैं।

निबंधों के प्रकार—

निबंध के विस्तार की चर्चा करते हुए हमने कहा था कि निबंध के विषयों की कोई सीमा नहीं है। यही बात निबंध के प्रकारों के विषय में भी चरितार्थ होती है। यदि छोटे-छोटे भेदों को ध्यान में रखकर निबंध-साहित्य का वर्गीकरण किया जाय तो निबंध के भेद-प्रभेदों की गणना एक दुरूह काम होगा और हम उसकी विभाजक रेखाओं का निर्धारण न कर सकेंगे—परन्तु स्थूल रूप से निबंध के चार प्रमुख प्रकार माने जा सकते हैं :—

(१) विचारात्मक (Reflective)
(२) भावात्मक (Emotional)
(३) वर्णनात्मक (Descriptive)
(४) विवरणात्मक (Narrative)

कुछ आलोचक विवरणात्मक निबंधों को वर्णनात्मक के अन्तर्गत गिनकर निबंधों के केवल तीन प्रकार मानते हैं। कुछ दूसरे महानुभाव आलोचनात्मक (Critical) निबंधों को विचारात्मक से पृथक् एक अलग कोटि में रखते हैं। अस्तु

किसी भी सरस काव्यरचना के लिए साहित्य-शास्त्रियों ने चार तत्त्वों की स्थिति स्वीकार की है—बुद्धितत्त्व, हृदयतत्त्व, कल्पना-तत्त्व और शैली तत्त्व। निबंधों के उपर्युक्त चारों प्रकारों में क्रमशः एक-एक का प्राधान्य परिलक्षित होता है—

विचारात्मक निबंधों में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता रहती है; भावात्मक

में हृदय-तत्त्व की; तथा वर्णनात्मक और विवारणात्मक में कल्पनातत्त्व की। अतः ये सभी प्रकार के निबंध काव्य के अन्तर्गत हैं। रचना की कलात्मकता अथवा शैलीतत्त्व इन सब में समान रूप से पाया जाता है।

विचारात्मक निबंधों में लेखक किसी विषय पर अपने विचार सुसम्बद्ध रीति से अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ़ में विचार दबा-दबा कर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड के लिए हो।" इन शब्दों को पढ़ते हुए बेकन की निबंध-शैली का सहसा स्मरण हो आता है। स्वयं शुक्ल जी के बहुत से निबंध इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। विचारात्मक निबंधों को विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, गवेषणात्मक आदि उप-विभागों में विभक्त किया जा सकता है।

भावात्मक निबंधों में लेखक के हृदय से निकलने वाली भावधारा विचार-सूत्र का नियंत्रण करती है। लेखक का उद्देश्य अपनी किसी सरस अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुँचाना होता है। इस प्रकार के निबंधों का उत्कर्ष हिन्दी में श्री माखन लाल चतुर्वेदी तथा श्री वियोगी हरि के निबंधों में देखा जा सकता है।

वर्णनात्मक निबंधों में किसी प्राकृतिक दृश्य, स्थान, व्यक्ति आदि का वर्णन रहता है। वर्णित वस्तु को उसके स्थिर रूप में देखा जाता है। दूसरी ओर विवरणात्मक निबंधों में यात्रा आदि का वर्णन रहता है अतः वर्णन में गतिशीलता आ जाती है। पहले प्रकार के निबंधों में प्रधानता देश की होती है, तो दूसरे में काल की। दोनों प्रकार के वर्णन में सफलता प्राप्त करने और उसमें सजीवता लाने के लिए लेखक में ऐंद्रिय अनुभूति, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति तथा कल्पना शक्ति प्रचुर मात्रा में होनी चाहिये। प्रवाहपूर्ण शैली और रुचिकर दृश्य का वर्णन ही ऐसे निबंधों का प्राण है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निबंधों का यह वर्गीकरण केवल सुविधा के लिए किया गया है। शुद्ध रूप में विचारात्मक

तथा अन्य प्रकार के निबंध बहुत कम ही मिलेंगे। साधारण निबंधों में प्रायः दो या अधिक प्रकार मिले रहते हैं। विचार और भाव, वर्णन और विवरण एक ही स्थान पर मिल सकते हैं। इसी लिए हमने कहा था कि निबंधों के प्रकारों का कोई अन्त नहीं है।

निबंध की शैली—

सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति से ही साहित्य का निर्माण होता है। सरस भाव जब सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किये जाते हैं, तब साहित्य की आत्मा अर्थात् रस की उत्पत्ति होती है। साहित्यगत सौन्दर्य के वाह्य पक्ष को ही शैली का नाम दिया गया है। उपयुक्त ध्वनि तथा उपयुक्त शब्द और अर्थ के योग से शैली का निर्माण होता है।

प्रत्येक प्रौढ़ और सफल लेखक की अपनी निजी शैली तथा अभिव्यक्ति का विशिष्ट ढङ्ग होता है, जिसके कारण उसकी रचनाएँ अन्य लेखकों की रचनाओं में मिला दी जाने पर भी अलग दिखाई दे जाती हैं। शैली और व्यक्ति को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अंगरेज़ी की सक्ति—'Style is the man' शैली ही व्यक्ति है—का यही अभिप्राय है। इससे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जितने लेखक उतनी ही शैलियाँ। एक दृष्टि से यह बात सत्य भी है। किन्हीं दो मौलिक और प्रतिभाशाली लेखकों की शैलियाँ समान नहीं हो सकतीं। परन्तु आलोचकों के विश्लेषणकुशल दिमाग़ों ने शैली के भी कुछ स्थूल विभाजन कर ही दिये हैं।

शैली के दो मुख्य भेद हैं—समास-शैली तथा व्यास-शैली। पहली में थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक बात कहने का प्रयत्न किया जाता है तो दूसरी में बात को खोलकर और समझा-समझाकर कहा जाता है। गागर में सागर भरने वाली समास-शैली का सबसे उत्तम उदाहरण हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शैली प्रायः विचारात्मक निबंध लिखने के काम

में ही लाई जाती है। इस प्रकार के निबंध व्यास-शैली में भी लिखे जा सकते हैं और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा बा० श्याम सुन्दरदास ने इस शैली का सफलता और कुशलता के साथ प्रयोग किया है। वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबंध प्रायः व्यास-शैली में लिखे जाते हैं क्योंकि विस्तार और व्यौरा ही ऐसे निबंधों की आत्मा है। हाँ, उनमें कहीं-कहीं समास-शैली के चमत्कार-युक्त और पाठक को आकर्षित कर लेने वाले वाक्य बिखरे रह सकते हैं।

भावात्मक निबंध लिखने में प्रायः तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग देखने में आता है—(१) धारा शैली; (२) विक्षेप अथवा तरंग शैली; (३) प्रलाप शैली। धारा शैली उसका नाम है जिसमें भावुक-हृदय किसी भावना से भर कर नदी की नाईं बह निकलता है और भाषा का प्रवाह बड़े वेग के साथ अग्रसर होता है और समगति से आगे बढ़ता चलता है। जब भावों की तीव्रता भाषा को तोड़-फोड़ देती है और भाव टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाते हैं (यद्यपि उनकी अन्तर्निहित एकसूत्रता बनी रहती है) तब तरंग अथवा विक्षेप शैली का जन्म होता है। परन्तु जब लेखक की अपने भावों में तन्मयता पागलपन की हद तक जा पहुँचती है और वह बहकी-बहकी-सी बातें करता हुआ प्रतीत होता है, उस समय उसकी शैली प्रलाप-शैली की संज्ञा धारण कर लेती है। इस शैली के उत्तम उदाहरण वे रचनाएँ हैं जिसमें किसी अदृश्य प्रियतम के प्रति हृदय के उद्‌गारों को अभिव्यक्त किया जाता है। हिन्दी में श्री चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' की रचनाओं में इस शैली का अच्छा परिपाक हुआ है।

साहित्य में निबंध का स्थान—

निबंध का आविर्भाव और विकास साहित्य में अपेक्षाकृत देर से होता है। साहित्य के अन्तर्गत निबंध की तुलना किसी नाटकीय रंगमंच पर नायक के प्रवेश से की जा सकती है। नायक का प्रवेश होने से पूर्व न केवल रंगमंच को सजा-सँवार कर तैयार कर लेना ही आवश्यक है,

अपितु जिस कथा का वह नायक है उसकी भूमिका भी सूत्रधार आदि अन्य पात्रों द्वारा पहले से प्रस्तुत कर देनी चाहिए। इसी प्रकार निबंध-साहित्य के प्रादुर्भाव से पूर्व एक ओर तो गद्य-भाषा का निर्माण होकर उसका रूप प्रौढ़ तथा स्थिर हो जाना चाहिए, दूसरी ओर उस भाषा का साहित्य काव्य की अन्य विधाओं की रचनाओं तथा शास्त्रीय साहित्य-ग्रंथों के निर्माण से परिपूर्ण होना चाहिए। अच्छे निबंधों की रचना हो तथा उनको समझने और उनका रस ले सकने वाले पाठक तैयार हों उसके लिए यह आवश्यक है कि बहुत सा अन्य प्रकार का साहित्य रचा और पढ़ा जाकर उस भाषा के बोलने वालों के जीवन का अंग बन चुका हो। कारण यह है कि उच्चकोटि के निबंधकार शेष साहित्य का उद्धरणों और संकेतों के रूप में अपने निबंधों में प्रयोग करते हैं। निबंध के रूप में केवल साहित्य-सर्जन ही नहीं होता वरन् साथ ही साथ जीवन तथा साहित्य की व्याख्या और आलोचना भी होती है।

दूसरी एक और दृष्टि से भी निबंध की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है। गद्य-रचना के जितने अन्य प्रकार हैं उनमें गद्य साधन-मात्र है, साध्य कुछ और है। परन्तु निबंध में गद्य अपने-आप में साध्य है। श्री करुणापति त्रिपाठी अपने ग्रन्थ 'शैली' में लिखते हैं—"व्यक्तित्व की छाप साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा निबंधों एवं प्रगीत मुक्तकों में अधिक दिखाई पड़ती है। शैली के इस रूप का पूर्ण और वास्तविक विकास निबंधों में ही दिखाई पड़ता है।"

सारांश यह कि उच्चकोटि के निबन्धों की रचना काव्य के दूसरे रूपों की रचना की अपेक्षा अधिक कठिन है तथा भाषा और लेखक की प्रौढ़ता की सूचक है। इसलिए निबन्ध-साहित्य किसी भाषा के साहित्य का शिरोमणि कहलाने का अधिकारी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द कितने सारगर्भित तथा सार्थक हैं—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सब से अधिक संभव है।"

हिन्दी में निबन्ध-साहित्य का आरम्भ—

कहने को तो हिन्दी गद्य का प्रारम्भ दान-पत्रों आदि के रूप में हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल में ही हो गया था। हिन्दी साहित्य के मध्य काल में भी, कुछ टीकाओं के रूप में और कुछ धार्मिक कथाओं, वार्ताओं आदि के रूप में, गद्यात्मक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तो हिन्दी गद्य का पर्याप्त मात्रा में व्यवस्थित रूप हमारे सामने आता है। रामप्रसाद निरंजनी द्वारा किया गया 'दासबोध' का हिन्दी अनुवाद अच्छे गद्य का नमूना है। उक्त अनुवाद के प्रकाशित होने के कोई साठ वर्ष बाद हिन्दी गद्य के चार लेखक—लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशा अल्ला तथा सदासुखलाल—अपने-अपने ढंग से हिन्दी गद्य के निर्माण में जुटे हुए दिखाई पड़ते हैं। इनके बाद एक ओर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी गद्य की उर्दू मिश्रित तथा संस्कृत-गर्भित शैलियों की छटा दिखाते हैं तो दूसरी ओर स्वामी दयानन्द तथा पं० श्रद्धाराम फुलेरी धर्म प्रचार के लिए हिन्दी गद्य का आश्रय लेते हैं। इस बीच में ईसाई पादरी भी ईसाइयत के प्रचार के लिए हिन्दी गद्य-रचना के क्षेत्र में अवतरित होते है। परन्तु इस लम्बी अवधि को हिन्दी गद्य की तैयारी का काल ही कहा जा सकता है। हिन्दी गद्य अब तक प्रयोगात्मक अवस्था में था और किसी ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति की बाट जोह रहा था जो उसे अनिश्चितता के गर्त से निकाल कर निश्चितता की भूमि पर प्रतिष्ठित करे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रूप में ऐसे व्यक्ति ने हिन्दी साहित्य के रंगमंच पर प्रवेश किया और गद्य-प्रवर्त्तक के रूप में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम नाटककार तथा उच्चकोटि के कवि थे। नाटक और कविता लिखने के साथ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो भारतेन्दु बाबू ने किया वह था हिन्दी गद्य के रूप को निश्चित करना। एक ओर तो उन्होंने खड़ी बोली को हिन्दी-गद्य लेखन के लिए अपनाया, दूसरी ओर

उसे संस्कृत, उर्दू आदि के अवांच्छनीय प्रभाव से मुक्त करके उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की।

यथार्थ में भारतेन्दु के उदय से ही हिन्दी का गद्य-युग आरम्भ होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि गद्य के अपुष्ट और अप्रचलित होने के कारण इससे पूर्व निबन्धों की रचना होना संभव नहीं था। अतः हिंदी साहित्य में निबंधों का प्रादुर्भाव भी भारतेंदु जी के साथ ही हुआ।

हिंदी-निबन्ध-साहित्य को विकासक्रम की दृष्टि से तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) भारतेन्दु युग (प्रारम्भिक काल)
(ख) द्विवेदी युग (विस्तार काल)
(ग) आधुनिक युग (प्रौढ़ता काल)

भारतेन्दु युग—

भारतेन्दु युग भारत में राष्ट्रीय नव-चेतना का युग था। शताब्दियों से सोई हुई भारतीय जनता ज्ञान-विज्ञान के नवीन युग में चेतना की आँखें खोल रही थी और अपने चतुर्दिक् एक नये संसार को देखकर उसे समझने तथा उसके साथ सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा कर रही थी। मध्यकालीन सामंती प्रथा का अन्त होकर समाज का निर्माण एक नये बौद्धिक आधार पर होना आरम्भ हो रहा था। धनिक-वर्ग और धनहीन जनता के बीच मध्यम वर्ग अपना स्थान बना रहा था। यह बुद्धिजीवी वर्ग था और जाति का नेतृत्व इसी के हाथ में आ रहा था। धर्म और संस्कृति, भाषा और साहित्य अब उच्च वर्ग तक सीमित न रह कर मध्यम वर्ग के माध्यम से साधारण जनता तक पहुँच रहे थे।

तत्कालीन साहित्य में हमें इस नवयुग तथा उससे संबन्धित नवचेतना, नूतन जागृति तथा अभिनव संस्कृति के दर्शन होते हैं। साहित्य के अन्य अंगों के समान साहित्य की नई विधा निबन्ध में भी ये सब चिह्न दिखाई देते हैं। भारतेन्दु युग का निबन्ध-साहित्य नव-जीवन की चंचलता और

सजीवता से ओत-प्रोत है। उसमें जीवन के प्रति अनुराग है। इसीलिए जहाँ उसमें उस समय के समाज का, उसके आदर्शों और उसकी आकांक्षाओं का चित्रण मिलता है वहाँ समाज की गली-सड़ी रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना भी दिखाई देती है जो कभी रोष और कभी व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है।

उस युग के निबन्धों की भाषा चलती हुई, मुहावरेदार, सशक्त तथा चटपटी है। जीवन और उल्लास जैसे उसके भीतर से छलकते हुए प्रतीत होते हैं। तत्कालीन निबन्ध प्रायः पत्रिकाओं में ही छपते थे इसलिए वे पढ़ी-लिखी जनता की सम्पत्ति थे और उसी को दृष्टि में रखकर लिखे जाते थे। लेखकों का हृदय जाति के हृदय के साथ मिलकर धड़कता था। निबन्ध के विषय प्रायः सामयिक, सांस्कृतिक और सामाजिक हुआ करते थे। कभी-कभी मनोभावों आदि स्थायी विषयों पर भी निबन्ध लिखे जाते थे, परन्तु उनका लक्ष्य भी गूढ़ विश्लेषण न होकर पाठकों का मनोरंजन ही होता था।

हिन्दी-गद्य-शैली के निर्माण में भारतेन्दु की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने जो कार्य किया वह उनके पूर्ववर्त्ती लेखकों के सम्मिलित प्रयत्न से भी न हो सका था। गद्य-शैली के आवश्यक उपकरण भाव, भाषा, शब्द-विन्यास, मुहावरे-लोकोक्ति आदि को नूतन रूप दिया जो उसे प्राप्त होना चाहिए था।

भारतेन्दु ने स्वयं तो निबंध लिखे ही, उनके प्रभाव से कई दूसरे निबंध-लेखक भी तैयार हुए जिनमें से बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मिश्र जी की शैली—जिसकी प्रधान विशेषताएँ आत्मीयता, सजीवता, विनोदप्रियता आदि हैं—उस समय के निबन्ध-साहित्य की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। मिश्र जी की इन विशेषताओं के कारण उन्हें फ्रांसीसी मौन्टेन तथा अंगरेज़ बेकन का हिन्दी प्रतिरूप माना जाता है।

भट्ट और मिश्र के साथ ही श्री बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन तथा ठाकुर जगमोहनसिंह ने भी निबन्ध-साहित्य के प्रणयन में अपना योग दिया। इन दोनों लेखकों में अनुप्रास के प्रति एक प्रकार का ऐसा अनुराग था जो निबंध की भाषा के प्रतिकूल पड़ता था, फिर भी आलोचना तथा वर्णन-परक कतिपय लेख इन दोनों सज्जनों ने भारतेंदु युग की परम्परा में रह कर ही लिखे। भारतेंदु युग के लेखकों ने जिस शैली से निबन्ध लिखना प्रारम्भ किया था यदि वह परम्परा चलती रहती तो निस्संदेह आज हिंदी-निबंध अनेक दृष्टियों से बहुत आगे बढ़ गया होता। यह ठीक है कि भारतेंदु युग के लेखकों में गंभीर पांडित्य और विशद अध्ययन का अभाव था किंतु मौलिकता तथा मर्मस्पर्शिता की दृष्टि से इस युग के निबंध बहुत ही पूर्ण ठहरते हैं। इस काल के निबंध-साहित्य का उदय किसी बाह्य प्रेरणा से न होकर तत्कालीन परिस्थिति की आवश्यकता तथा हृदय की उमंग से ही हुआ था। कदाचित् इसी कारण उसमें वैयक्तिकता की मात्रा भी अत्यधिक हो गई है जो कहीं-कहीं दोष की सीमा तक पहुँच जाती है।

द्विवेदीयुग—

हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध समालोचक ने भारतेंदु-युग को हिन्दी गद्य का शैशव-काल कहा है और द्विवेदी युग को इसका शिक्षण काल। भारतेंदु के समय में रचे जाने वाले निबंधों में बालक का स्वभाव अपने सभी गुणों तथा अवगुणों के साथ विद्यमान है। उसमें शिशु-सुलभ चांचल्य के कारण गम्भीरता का अभाव है। भाषा सजीव और चलती हुई है, परंतु वह कभी-कभी निरंकुश हो जाती है। उसमें भावुकता है, आत्माभिव्यक्ति की भूख है, परंतु प्रौढ़ता और विचारात्मकता की कमी है। द्विवेदी-युग में उसकी इन अपूर्णताओं को दूर करने का प्रयास हुआ, परंतु खेद है कि उसके साथ उसके कई बहुमूल्य गुण भी लुप्त हो गये।

द्विवेदी जी की हिन्दी साहित्य को प्रधान देन भाषा का शोधन और परिष्कार है। उन्होंने हिन्दी गद्य को नियमित और सुव्यवस्थित किया। भाषा-परिष्कार का यह कार्य द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा किया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में सरस्वती ने हिन्दी का पथ-निर्देश किया और सभी दिशाओं में लेखक तथा कवियों को प्रोत्साहित किया, परन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से हिन्दी गद्य अपनी ज़िन्दादिली और सजीवता को खो बैठा। साधारण जनता से उसका सम्पर्क हट गया। उसमें एक प्रकार का आभिजात्य उत्पन्न हुआ और वह शिष्ट वर्ग की सम्पत्ति बनकर रह गया।

द्विवेदी जी इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि हिन्दी-साहित्य का कलेवर नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से भर दिया जाय। इसके लिए उन्होंने स्वयं भी प्रयत्न किया और एक लेखकमंडल अपने प्रोत्साहन द्वारा तैयार किया। उस समय जो निबंध रचे गये उनमें से बहुत से जनता की जानकारी बढ़ाने के उद्देश्य से लिखे गये थे। अतः उनमें लेखकों के व्यक्तित्व का आभास कम ही मिलता है। वे 'बातों के संग्रह' की कोटि में आते हैं।

द्विवेदी-युग में भाषा की समृद्धि अवश्य हुई और अभिव्यंजना की दृष्टि से उसमें परिष्कार भी हुआ किन्तु खेद है कि मौलिक प्रतिभा के सरस निबंधकार इस युग में उत्पन्न न हो सके। स्वयं द्विवेदीजी के निबंधों में भी वैसी क्षमता तथा परिपूर्णता न आ सकी जो भारतेन्दु युग के लेखक भट्ट और मिश्र में थी। हाँ, इस युग में हम दो निबंध लेखकों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। पहले मौलिक निबंध लेखक हैं श्री बालमुकुन्द गुप्त और दूसरे श्री अध्यापक पूर्णसिंह। गुप्त जी ने यथार्थ में भारतेन्दु युग की परम्परा का पूर्ण रूप से निर्वाह किया और 'वंगवासी' नामक पत्र के सम्पादक रहकर सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर बहुत ही सुन्दर लेख लिखे। हास्य, विनोद और व्यंग्य का पुट देकर अपनी कलम को पाठक की भावना से मिला देने की कला में गुप्त जी अद्वितीय

हैं। भाषा-परिष्कार की ओर आपका अधिक ध्यान नहीं था। आप तो मर्मस्पर्श की ओर ही अधिक प्रवृत्त रहते थे। 'शिव शम्भू का चिट्ठा' आपके व्यंग्यात्मक लेखों का सुप्रसिद्ध संग्रह है। इन लेखों में गुप्त जी की भावना जिस रूप में प्रस्फुटित हुई है वह देखते ही बनता है। आपके निबंधों का संग्रह 'गुप्त निबंधावली' नाम से प्रकाशित हो चुका है। श्री अध्यापक पूर्णसिंह उस युग के दूसरे मौलिक निबंधकार हैं जिनकी अभिव्यक्ति सर्वथा नूतन और विचारधारा वर्तमान युग के अति निकट है। उनके निबंधों में सबसे पहले उच्चकोटि की लाक्षणिकता के दर्शन हुए। आध्यात्मिकता और विश्वबन्धुत्व की भावना को व्यक्त करने वाले निबंधों में पूर्णसिंह जी को अच्छी सफलता मिली है। इस युग के अन्य लेखकों में पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० माधव प्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा बा० श्यामसुन्दर दास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदी युग के द्वितीय चरण में कुछ अन्य लेखक भी निबंधकार के रूप में अवतरित हुए। उनपर द्विवेदी जी की विचारधारा का प्रभाव नहीं था अतः वे स्वतंत्र रूप से अच्छे निबंध लिखने में सफल हो सके। इनमें श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाबराय, वियोगी हरि, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का उल्लेख करना अनिवार्य है।

आधुनिक युग—

द्विवेदी जी के समय में ही आचार्य रामचद्र शुक्ल ने निबंध-लेखन का कार्य आरम्भ कर दिया था। शुक्ल जी मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक थे उन्होंने कोई बाह्य प्रभाव ग्रहण नहीं किया। वास्तव में उन्होंने स्वतंत्र रूप से एक मौलिक और नवीन शैली की उद्भावना थी जो उनके व्यक्तित्व के अनुरूप थी। शुक्ल जी में हिन्दी निबंध अपने चरम विकास पर पहुँच गया। उन्होंने ऐसे विचारात्मक निबंध लिखे जिन पर उनके विस्तृत अध्ययन और मनन की स्पष्ट छाप है, जिनकी भाषा संयत और प्रौढ़ होते हुए भी सजीव तथा मनोरंजक है, और जिनमें गंभीरता के साथ-

साथ हास-व्यंग्य के शीतल छींटे भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। उपन्यास-क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचंद का है, नाटकों के क्षेत्र में जो स्थान प्रसाद का है, निबंध-साहित्य में उस स्थान के अधिकारी निस्सन्देह आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं।

आधुनिक युग में निबंध साहित्य और उसकी शैलियों का विशद विस्तार हुआ है। बाबू गुलाबराय और श्री सियाराम शरण के आत्म-परक निबंध एकदम मौन्टेन के समीप पहुँचते हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने गवेषणात्मक निबंध अत्यन्त रोचक शैली में लिखे हैं। महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक निबंध कविता और आख्यायिका की सीमाओं को छूते हुए उनके समवेदना-पूर्ण हृदय का परिचय देते हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी ने आलोचनात्मक और भावात्मक शैलियों का आपने निबंधों में सुन्दर सम्मिश्रण किया है। डा० नगेन्द्र के आलोचनात्मक निबंध मनो-वैज्ञानिकता तथा आत्मीयता के तत्त्व से युक्त हैं। जैनेन्द्रकुमार ने शुद्ध विचारात्मक निबंध लिखे हैं। आलोचनात्मक तथा शास्त्रीय विषयों पर निबंध लिखने वालों में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख; डा० सत्येन्द्र और श्री विनयमोहन शर्मा ने अच्छी ख्याति अर्जित की है।

इधर एक नई शैली का हमारे निबंध-साहित्य में उदय और विकास हुआ है। रहस्यवादी ढंग के भावनात्मक निबंध लिखे गये हैं जिनमें विचारों की शृंखला भावों के नीचे दबी हुई सी प्रतीत होती है। ऐसे निबंध-कारों में रायकृष्णदास और वियोगी हरि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाराजाकुमार रघुवीर सिंह ने भी भावनात्मक निबंध लिखे हैं, परंतु उनकी भावना अतीत की ऐतिहासिक स्मृतियों का आधार लेकर चलती है और कल्पना की सहायता से भूतकाल को जीवित-जाग्रत रूप में प्रस्तुत करती है। साहित्य के अन्य अंगों की भाँति निबंध-साहित्य में भी प्रगतिवादी तथा साम्यवादी विचारधारा के लेखकों का आगमन हुआ है। श्री रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री प्रकाशचंद्रगुप्त आदि के फुटकर निबंध प्रगतिवादी दृष्टि-

कोण को प्रस्तुत करते हैं। विचारात्मक निबंध-लेखकों में श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र तथा इलाचंद्र जोशी का नाम भी उल्लेखनीय है। नवीन लेखकों में श्री प्रभाकर माचवे ने छोटे-छोटे विषयों पर बहुत ही मनोरंजक शैली से निबंध लिखे हैं। उनमें व्यंग्य और हास्य का पुट होते हुए भी गहरी जानकारी की बातें भरी पड़ी हैं। माचवे की यह शैली निबंध की एक अपनी विशेषता है। 'खरगोश के सींग' नामक उनका निबंध-संकलन इस दृष्टि से स्तुत्य है।

हिन्दी निबंध-साहित्य का जो संक्षिप्त विवेचन हमने किया है उससे यह प्रकट है कि हमारे साहित्य के इस अंग ने पर्याप्त प्रगति की है। विषय तथा शैली दोनों ही की दृष्टि से इसका अच्छा विस्तार हुआ है और इसमें प्रौढ़ता के असंदिग्ध लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे हैं। हिन्दी गद्य की अभिव्यंजना शक्ति प्रचुर परिमाण में समृद्ध हुई है तथा कई लेखकों ने व्यक्ति-परक विशिष्ट शैलियों का निर्माण किया है। ऐसे निबंधों की रचना होनी आरंभ हो गई है जो विचारों की प्रौढ़ता, परिपक्वता तथा शैली की आकर्षकता के कारण हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर सकते हैं। परन्तु यह मानना ही होगा कि इस क्षेत्र में अभी बहुत काम करना शेष है। जितनी तत्परता के साथ हमारे यहाँ उपन्यासों और आख्यायिकाओं की रचना हो रही है उतना ध्यान निबंध-लेखन की ओर नहीं दिया जा रहा है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि हिन्दी के अधिकांश पाठकों की रुचि इस ओर नहीं है।

गंभीर और विचार-पूर्ण साहित्य-सर्जन के लिए निबंध ही एक ऐसा माध्यम है जो लेखक की वैयक्तिकता का विधिवत् निर्वाह करते हुए किसी भाव, विचार या सिद्धान्त का रोचक शैली से संक्षेप में प्रतिपादन कर सकता है। कलाकार की परख के लिए प्राचीनों ने गद्य को कसौटी माना था। आज भी हम देखते हैं कि भावाभिव्यक्ति का संयत, सीमित, सुसम्बद्ध रूप केवल निबंध ही है अतः साहित्य की परिपूर्णता तभी सम्भव है जब ऊचकोटि का निबंध-साहित्य तैयार हो।

श्री बालकृष्ण भट्ट

श्री बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में सम्वत् १९०६ में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही हुई, बाद में कुछ समय तक स्कूल में भी हिन्दी, अङ्गरेज़ी पढ़ी। स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद प्रयाग के 'जमुना मिशन हाई स्कूल' में तथा 'कायस्थ पाठशाला हाई स्कूल' में आपने हिन्दी तथा संस्कृत के अध्यापक के रूप में कार्य किया। हिन्दी-प्रचार के लिए आपने 'हिन्दी प्रदीप' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला जो उस समय की साहित्यिक चेतना का अच्छा आभास देता है। सम्वत् १९७१ में भट्ट जी का परलोकवास हुआ।

भारतेन्दु मण्डल के निबंध-लेखकों में भट्टजी का स्थान अभिव्यक्ति की सरसता और विषय-वस्तु की मौलिकता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। भट्टजी हिन्दी गद्य की एक निश्चित शैली या 'ढर्रा' स्थिर करने का उद्देश्य रखकर ही हिन्दी प्रदीप का सम्पादन करते थे। लगातार बत्तीस वर्ष तक उन्होंने इस पत्र द्वारा हिन्दी गद्य को परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया। भट्टजी गम्भीर एवं अध्ययनशील प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। आपका पांडित्य और गहन अध्ययन आपके निबंधों में देखा जा सकता है। अपने मन्तव्य की स्थापना के लिए संस्कृत और अङ्गरेज़ी के उद्धरण प्रस्तुत करके आप अपने निबंधों में जीवन-संचार करते थे। निबंध के कलेवर के विषय में आपकी सुनिश्चित धारणा थी कि निबंध को विस्तार से बचाना चाहिये। वे कहा करते थे कि "मालूम नहीं छोटी सी बात को लेखक क्यों व्यर्थ ही विस्तार दे देते हैं!" भाषा के सम्बन्ध में भट्ट जी का एक विशिष्ट दृष्टिकोण था। प्रचलित शब्दों का प्रयोग उन्हें बहुत ही प्रिय था। उर्दू, फ़ारसी और अङ्गरेज़ी के शब्दों को शुद्ध तत्सम रूप

में प्रयोग करना उनकी विशेषता है। मुहावरे के प्रयोग की तो आपको धुन थी। व्यंग्य और वक्रता आपके निबंधों का प्राण कहा जा सकता है। भाषा को प्रवाहपूर्ण और बोधगम्य बनाने के लिये पूर्वीपन की झलक प्राय: देखने में आती है। विनोद और हास-परिहास को भी आपने निबंधों में स्थान दिया है किन्तु विनोद के पीछे उक्ति-वक्रता के साथ एक गहरा दंश छिपा रहता है जो पाठक को कचोटे बिना नहीं रहता।

साहित्यिक और गम्भीर विषयों पर निबंध लिखते समय भट्ट जी की अभिव्यञ्जना में परिवर्तन आ जाता है। भाषा संस्कृतगर्भित तथा उद्धरण-बहुल हो जाती है। 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता', 'आँसू' आदि निबंधों में तत्सम शब्दों का प्राचुर्य देखा जा सकता है। संस्कृत साहित्य का आपने अच्छा अध्ययन किया था। अतः संस्कृत काव्यों के श्लोकों का प्रयोग आप प्राय: करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट को अङ्गरेज़ी निबंध लेखक एडीसन और स्टील के समान हिन्दी गद्य के निर्माता का स्थान दिया है। निःसन्देह भारतेन्दु-युग के निबंध लेखकों में भट्ट जी का स्थान भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की मौलिकता की दृष्टि से सर्व-श्रेष्ठ है।

प्रस्तुत निबंध 'आँसू' में लेखक ने आँसू का महत्व प्रदर्शित करते हुये यह बताया है कि कब और किस मनोदशा में आँसू हमें सिक्त करके हमारे मनोभावों को प्रकट करते हैं। प्रेम, करुणा, भक्ति और उल्लास के आँसुओं में क्या अन्तर है। आँसू की एक बूँद ने क्या-क्या गज़ब किया है और आँसू में कैसी विलक्षण शक्ति छिपी है विश्व-इतिहास में आँसुओं के द्वारा जो परिवर्तन और उथल-पुथल हुए हैं उसकी ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

: १ :

आँसू

[बालकृष्ण भट्ट]

मनुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए खज़ाने के माफ़िक हैं। जैसे कभी कोई नाज़ुक वक्त आ पड़ने पर संचित पूँजी ही काम देती है, उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकट करने में जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं, तब आँसू ही उन-उन भावों को प्रकट करने में सहायक होते हैं। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब किसी दिली दोस्त से मुलाक़ात होती है, तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान में अङ्ग-अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, वाष्प-गद्‌गद् कंठ रुंध जाता है, जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की खुशी को प्रकट करने के लिये एक-एक शब्द मनों बोझ सा मालुम पड़ता है। पहले इसके कि शब्दों से वह अपना असीम आनन्द प्रकट करे, सहसा आँसू की नदी उसकी आँख में उमड़ आती है, और नेत्र के पवित्र जल से वह अपने प्राणप्रिय को नहलाता हुआ, उसे बग़लगीर करने को हाथ फैलाता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्यदेव के नामसंकीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्तिदर्शन कर प्रेमाश्रुपात से जिसने उसके चरण-कमलों का अभिषेक न किया, उस दाम्भिक को भक्ति के आभास मात्र से क्या फल ? सरल कोमल चित्त वाले अपने मनोगत सुख-दुख के भाव को छिपाने की हज़ार हज़ार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई उनके चित्त की गहराई को न थाह सके, पर अश्रुपात भावगोपन की सब चेष्टा

को व्यर्थ कर देता है। मोती सी आँसू की बूँदें जिस समय सहसा नेत्र से झरने लगती हैं, उस समय उसे रोक लेना बड़े-बड़े गम्भीर प्रकृति वालों की भी शक्ति के बाहर होता है। भवभूति ने, जिनको प्रकृति का चित्र अपनी कविता में खींच देना खूब मालूम था, कई ठौर पर अश्रु-पात का बहुत उत्तम वर्णन किया है, जिससे यही आशय निकलता है। यथा—

अयंते वाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मात हृदयः॥
विलुलितमतिपूरैर्वाष्पमानन्दशोक
प्रभवमवसृजन्ती तृष्णयोत्तानदीर्वा।
स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते
धवलबहलमुग्धा दुग्धकूल्येव दृष्टिः॥

(उत्तररामचरित)

यदि सृष्टिकर्त्ता अत्यन्त शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता, तो वज्रपात-सम दारुण दुःख के वेग को कौन सम्भाल सकता? इसी भावार्थ का पोषक भवभूति का नीचे का यह श्लोक बहुत उत्तम है—

पूरोत्पीड़े तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

अर्थात् बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है, तो बाँध तोड़, उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है। इसी तरह अत्यन्त शोक से क्षोभित तथा व्याकुल मनुष्य को अश्रुपात ही हृदय को विदीर्ण होने से बचा लेने का उपाय है। बल्कि ऐसे समय रोना ही राहत है। जैसा कि भवभूति ने लिखा हैः—

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा।
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव धर्मः क्लमयति॥

स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ
स्तथाप्युच्छ्वासोमेभवति ननु लाभोहिरुदितम् ॥

कोई शूरवीर, जिसको रणचर्चा मात्र सुन जोश आ जाता है और जो लड़ाई में गोली तथा वाणों की वर्षा को तुच्छ मानता है, वीरता की उमंग में भरा हुआ युद्ध-यात्रा के लिये प्रस्थान करने को तैयार है। बिदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबा वालों के आँसू के एक एक बूँद की क्या कीमत है, यह वही जान सकता है। वह शशोपंज में पड़, आगे को पाँव रख, फिर हटा लेता है। वीर और करुण ये दो विरोधी रस, अपनी अपनी ओर से उमड़ उमड़ देर तक उसे किंकर्तव्यविमूढ़ किये रहते हैं। आँख में आँसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्पुरुषों के आता है, जिनके सच्चे सरल चित्त में कपट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया है। निठुर, निर्दयी, मक्कार की आँखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना जाना नहीं, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी ? प्रकृति ने चित्त का आँख के साथ कुछ ऐसा सीधा सम्बन्ध रख दिया है कि आँखें चित्त की वृत्तियों को चट पहचान लेती हैं और तत्काल तदाकार अपने को प्रकट करने में देर नहीं करतीं। तो निश्चय हुआ कि जो बेकलेजे हैं, उनकी बैल सी बड़ी बड़ी आँखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की वृत्तियों का उन पर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आँख के सीधे सम्बन्ध को बिहारी कवि ने कई दोहों में प्रकट किया है। यथा—

कोटि जतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरै न।
कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन॥
दई निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत अचेत।
हौं कसि कै रिस को करौं, ये निरखत हँस देत॥

मृतक के लिए लोग हज़ारों लाखों ख़र्च कर आलीशान रोजे, मकबरे, कब्र, संगमरमर या संगमूसा की बनवा देते हैं, कीमती पत्थर, मानिक, ज़मुर्रद से आरास्ता उन्हें करते हैं, पर वे मकबरे क्या उसकी

रूह को उतनी ही राहत पहुँचा सकते हैं, जितनी उनके दोस्त आँसू के कतरे टपका कर पहुँचाते हैं ?

इस आँसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं। अक्षर उनके मुख से पीछे निकलेगा, आँसुओं की झड़ी पहले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आँसू निकलता है, मानो रोना उनके पास गिरों रहता है, इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आँसू को रोकने वाला केवल धीरज है। उसका टोटा यहाँ हरदम रहता है। तब इनके आँसू का क्या ठिकाना ? सत्यशाली धीरज वालों को आँसू कभी आता ही नहीं। कड़ी से कड़ी मुसीबत में दो चार कतरे आँसू के मानों बड़ी बरकत है। बहुत मौकों पर आँसू ने ग़ज़ब कर दिया है। सिकन्दर का कौल था कि अपनी माँ की आँख के एक कतरा आँसू की कीमत मैं बादशाहत से भी बढ़कर मानता हूँ। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार कराया।

किसी को बैंगन बावले, किसी को बैंगन पत्थ।

बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ़ में दाख़िल है। हमारे लिए आँसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिन रात आँखों से आँसू टपकता है। ज्यों ज्यों आँसू गिरता है, त्यों त्यों बीनाई कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें कर चुके, आँसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जाने बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र हमारे ही कपार में आकर भर रहा है। आँख से तो आँसू चला ही करता है। आज हमने लेख में भी आँसू ही पर कलम चला दी। पढ़ने वाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म ग्राम दौलतपुर जि० रायबरेली में सम्वत् १९२१ में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई और बाद में अंग्रेज़ी स्कूल में आपने मैट्रिक तक अंग्रेज़ी पढ़ी। द्विवेदी जी को हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और अंग्रेज़ी का अच्छा ज्ञान था। कुछ समय तक रेल-विभाग में नौकरी करने के बाद आप साहित्य-सेवा के विचार से प्रयाग से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादन विभाग में आ गये और उसके द्वारा हिन्दी भाषा की निरन्तर बीस वर्ष तक सेवा करते रहे।

द्विवेदी जी को हिन्दी-साहित्य में युग-प्रवर्तक का स्थान प्राप्त है। भारतेन्दु के बाद हिन्दी-साहित्य में जो नूतन चेतना और जागृति आई उसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। हिन्दी भाषा को परिमार्जित एवं व्याकरण सम्मत बनाकर परिपुष्ट करने में आपने जो योग दिया वह हिन्दी भाषा के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगा। द्विवेदी जी का दूसरा उल्लेखनीय कार्य है नवोदित लेखक और कवियों को प्रोत्साहित कर खड़ी बोली में सुन्दर गद्यपद्यात्मक साहित्य-सृजन की प्रेरणा देना। आपके प्रोत्साहन से उस काल में अनेक कवि और लेखक साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। श्री मैथिलीशरण गुप्त उस युग की सब से बड़ी देन हैं। द्विवेदी जी के कार्य की व्यापकता और विशालता को देखकर कहना पड़ता है कि वे अपने व्यक्तित्व में एक महान् संस्था का रूप लेकर अवतरित हुए थे।

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में द्विवेदी जी ने प्रांजल अभिव्यक्ति, विषय-वैविध्य और आलोचना का पुट देकर उसकी सीमाओं का विस्तार किया।

अपने निबन्धों में द्विवेदी जी ने ग्रामीण या प्रान्तीय शब्दों को बड़ी सतर्कता से बचाया है। विषयानुकूल भाषा तथा पदावली का प्रयोग करके उन्होंने वर्ण्य विषय को स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किया है। उनके लेखों में शैली की दृष्टि से अनेकरूपता लक्षित होती है। विचारात्मक और गम्भीर विषयों पर लिखे निबन्ध तत्सम प्रधान संश्लिष्ट पदावली से परिपूर्ण होते हैं ; व्यग्यात्मक और व्यावहारिक विषयों पर लिखे गये लेख सरल, प्रचलित तद्भव शब्दों से गुम्फित रहते हैं। संस्कृत काव्यों का अनुवाद करने की भी आपको धुन थी अतः संस्कृत की सरस और कान्त पद रचना-शैली भी आपके निबन्धों में देखी जा सकती है। अंग्रेजी की रचना-शैली की भी आपके निबन्धों पर कहीं-कहीं छाप पड़ी है।

निबन्धों के विषय-वैविध्य की दृष्टि से हम द्विवेदी जी को नहीं भूल सकते। 'सरस्वती' में लेख लिखने के अतिरिक्त शिक्षा, समाज, व्यापार, राजनीति, धर्म, आर्थिक समस्या आदि अनेक उपयोगी विषयों पर आपने बीसियों निबन्ध लिखे। व्यावहारिक एवं उपयोगी विषयों पर लेख लिखने का एक लाभ यह भी हुआ कि हिन्दी-माध्यम से इन विषयों पर पाठकों को सामग्री उपलब्ध हो सकी।

द्विवेदी जी के निबन्धों में प्रवाह और मौलिकता का अभाव अवश्य खटकता है। भारतेन्दु-युग के निबन्ध लेखकों में जैसी सजीवता और व्यंग्यात्मक तीक्ष्णता थी वह द्विवेदी जी न ला सके। कहना न होगा कि द्विवेदी-युग के निबन्ध लेखकों में वैसी ज़िन्दादिली नहीं थी जो भट्ट और मिश्र में दृष्टिगत होती है।

'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' हिन्दी का एक सुप्रसिद्ध निबन्ध है। द्विवेदी जी की पुस्तक 'रसज्ञ रंजन' में यह संकलित है। इस निबन्ध को लिखने की प्रेरणा कवीन्द्र रवीन्द्र के उस लेख से हुई जिसमें उन्होंने कवियों को उपालम्भ देकर उर्मिला की उपेक्षा के कारण उन्हें लांच्छित किया था। द्विवेदी जी ने उसी भाव को हिंदी में बड़ी सुन्दर शैली से प्रस्तुत किया है। उर्मिला का त्याग सीता और मांडवी से किसी

कोटि में न्यून नहीं है किन्तु कवियों ने उर्मिला का स्मरण नहीं किया, बाल्मीकि और तुलसी दोनों ही लक्ष्मण-पत्नी उर्मिला को भूल गये। किन्तु पति-वियोग को जिस शान्त-स्निग्ध मुद्रा से उर्मिला ने सहन किया वह सर्वथा विस्मरणीय नहीं हो सकता। इस लेख से ही प्रेरणा लेकर श्री गुप्त जी ने 'साकेत' में उर्मिला और लक्ष्मण की प्रणय-भावना को अङ्कित किया है। लेख की अभिव्यंजना शैली बड़ी ही मार्मिक, तीव्र, उपालम्भपूर्ण और सरस है।

———

: २ :

कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता

[महावीर प्रसाद द्विवेदी]

कवि स्वभाव से ही उच्छृंखल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गए झुक गए। जी में आया तो राई का पर्वत कर दिया, जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आँख उठा कर न देखा। यह उच्छृंखलता या उदासीनता सर्वसाधारण कवियों में देखी ही जाती है, आदि-कवि तक इससे नहीं बचे। क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को निषाद द्वारा वध किया गया देख जिस कवि शिरोमणि का हृदय दुःख से विदीर्ण हो गया, और जिसके मुख से "मा निषाद" इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी, वही परदुःखकातर मुनि, रामायण निर्माण करते समय, एक नवपरिणीता दुःखिनी वधू को बिलकुल ही भूल गया। विपत्ति-विधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरा समवेदना तक उसने प्रकट न की, उसकी खबर तक न ली।

बाल्मीकि-रामायण का पाठ किंवा पारायण करने वालों को उर्मिला के दर्शन सबसे पहिले जनकपुर में सीता, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के साथ होते हैं। सीता की बात तो जाने ही दीजिये। उनके और उनके जीविताधार रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण ही के लिये रामायण की रचना हुई है। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के विषय में कोई विशेषता नहीं। क्योंकि आग से भी अधिक सन्ताप पैदा करने वाला पति-वियोग उनको हुआ ही नहीं। रही बाल-वियोगिनी देवी उर्मिला, सो उसका चरित्र सर्वथा गेय और आलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके

साथ अन्याय किया। मुने ! इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों ? क्या इसलिये कि इसका नाम इतना श्रुतिसुखद, इतना मंजुल, इतना मधुर है, और तापसजनों का शरीर सदैव शीतातप सहने के कारण कठोर और कर्कश होता है ? पर नहीं, आपका काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि आप कठोरता-प्रेमी नहीं। भवतु नाम। हम इस उपेक्षा का एक-मात्र कारण भगवती उर्मिला का भाग्यदोष ही समझते हैं। हा हतविधिलसिते परमकारुणिकेन मुनिना बाल्मीकिनापि विस्मृतासि।

हाय बाल्मीकि ! जनकपुरी में तुम उर्मिला को सिर्फ एक बार, वैवाहिक वधू वेश में, दिखा कर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर ससुराल में उसकी सुध यदि आपको न आई थी तो न सही। पर, क्या लक्ष्मण के वनप्रयाण समय में भी उसके दुःखाश्रुमोचन करना आपको उचित न जँचा ? रामचन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैयारियाँ हो रही थीं, जब राजान्तःपुर ही क्यों सारा नगर नन्दन बन रहा था, उस समय नवला उर्मिला कितनी खुशी मना रही थी, सो क्या आपने नहीं देखा ? अपने पति के परमाराध्य राम को राज्य-सिंहासन पर आसीन देख उर्मिला को कितना आनन्द होता, इसका अनुमान क्या आपने नहीं किया ? हाय वही उर्मिला एक घंटे बाद, राम-जानकी के साथ, निज पति को १४ वर्ष के लिए बन जाते देख, छिन्नमूल शाखा की तरह राजसदन की एकान्त कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपके नयनगोचर न हुई ? फिर भी उसके लिए आपकी "वचने दरिद्रता" ! उर्मिला वैदेही की छोटी बहिन थी। सो उसे बहिन का वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा, पर इतनी घोर दुःखिनी होने पर भी आपने दया न दिखाई। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आँख भर देख भी न लेने दिया। जिस दिन राम और लक्ष्मण, सीता देवी के साथ, चलने लगे, जिस दिन उन्होंने अपने पुरत्याग से अयोध्या नगरी को अन्धकार में, नगरवासियों को दुःखोदधि में और पिता को मृत्यु-मुख में, निपतित किया, उस दिन

भी आपको उर्मिला याद न आई। उसकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने न सोचा। इतनी उपेक्षा!

लक्ष्मण ने अकृत्रिम भ्रातृस्नेह के कारण बड़े भाई का साथ दिया। उन्होंने राज-पाट छोड़कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया। यह बहुत बड़ी बात की। पर उर्मिला ने इससे भी बढ़कर आत्मोत्सर्ग किया। उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम-जानकी के लिए दे डाला और यह आत्मसुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे ब्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने अपने सांसारिक सुख के सब से अच्छे अंश से हाथ धो डाला। जो सुख विवाहोत्तर उसे मिलता उसकी बराबरी १४ वर्ष पति-वियोग के बाद का सुख कभी नहीं कर सकता। नवोढत्व को प्राप्त होते ही जिस उर्मिला ने, रामचन्द्र और जानकी के लिए, अपने सुखसर्वस्व पर पानी डाल दिया उसी के लिए अन्तर्दर्शी आदि-कवि के शब्द-भाण्डार में दरिद्रता!

पति-प्रेम और पति-पूजा की शिक्षा सीता देवी को जहाँ मिली थी वहाँ उर्मिला को भी मिली थी। सीता देवी की सम्मति थी कि—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते।

उर्मिला की क्या यह भावना न थी? ज़रूर थी। दोनों एक ही घर की थीं। उर्मिला भी पतिपरायणता के मर्म को अच्छी तरह जानती थी। पर उसने लक्ष्मण के साथ बन-गमन की हठ, जान-बूझ कर, नहीं की। यदि वह भी साथ जाने को तैयार होती तो लक्ष्मण को अपने अग्रज राम के साथ उसे ले जाने में संकोच होता, और उर्मिला के कारण लक्ष्मण अपने उस आराध्य-युग्म की सेवा भी अच्छी तरह न कर सकते। यही सोचकर उर्मिला ने सीता का अनुकरण नहीं किया। यह बात उसके चरित्र की बहुत बड़ी महत्ता की बोधक है। बाल्मीकि को ऐसी उच्चाशय रमणी का विस्मरण होते देख किस कविता-मर्म्मज्ञ को आन्तरिक वेदना न होगी?

तुलसीदास जी ने भी उर्मिला पर अन्याय किया है। आपने इस विषय में आदि-कवि का ही अनुकरण किया है। "नानापुराणनिगमागम-सम्मत" लेकर जब रामचरितमानस की रचना करने की घोषणा की थी, तब यहाँ पर आदि-काव्य को ही अपने वचनों का आधार मानने की कोई वैसी ज़रूरत न थी। आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को उर्मिला से नहीं मिलने दिया। माता से मिलने के बाद, झट कह दिया—

गये लषण जहँ जानकिनाथा।

आपके इष्टदेव के अनन्य सेवक "लषण" पर इतनी सख्ती क्यों? अपने कमण्डलु के करुणावारि का एक भी बूँद आपने उर्मिला के लिए नहीं रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को समर्पण कर दिया। एक ही चौपाई में उर्मिला की दशा का वर्णन कर देते। अथवा उसी के मुँह से कुछ कहलाते। पाठक सुन तो लेते कि राम-जानकी के बनवास और अपने पति के वियोग के सम्बन्ध में क्या क्या भावनायें उसके कोमल हृदय में उत्पन्न हुई थीं। उर्मिला को जनकपुर से साकेत पहुँचाकर उसे एक दम ही भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।

हाँ, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है। राम, लक्ष्मण और जानकी के बन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी उर्मिला की एक बार याद आ गई है। चित्र-फलक पर उर्मिला को देखकर सीता ने लक्ष्मण से पूछा "इयमप्यपरा का?" अर्थात् लक्ष्मण, यह कौन है? इस प्रकार देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं। इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गए। वे कुछ लज्जित होकर मन ही मन कहने लगे—उर्मिला को सीतादेवी पूछ रही हैं। उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिए बिना ही उर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया। कैसे खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्र कवियों के द्वारा भी आज तक इसी तरह ढकता आया।

———

श्री पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह का जन्म सन् १८८२ में एबटाबाद में हुआ था। इंटरमीजिएट तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आप रसायन-शास्त्र का अध्ययन करने जापान की इम्पीरियल यूनिवर्सिटी, टोकियो में गये। वहाँ से लौटने पर आप देहरादून के फॉरेस्ट कॉलेज में इम्पीरियल केमिस्ट के पद पर नियुक्त हुए। वहीं अध्यापन-कार्य करते हुए आपका मार्च सन् १६३१ में देहान्त हुआ।

सरदार पूर्णसिंह ने केमिस्ट के रूप में अध्यापक का कार्य किया था अत: हिन्दी भाषा से प्रेम होने के कारण आप अपने नाम के साथ 'अध्यापक' शब्द का प्रयोग करते थे। भावुकता, सहृदयता, प्रेम और मस्ती आपके व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं। आपने अपनी निबन्ध-शैली में अपने व्यक्तित्व के इन गुणों को इतनी पूर्णता के साथ घुला-मिला दिया है कि निबन्ध को पढ़ते ही इनके लेखक का पता चल जाता है। आपने केवल पाँच-सात निबन्ध ही लिखे किन्तु अभिव्यंजना की नूतनता के कारण आपका नाम हिन्दी निबन्ध-लेखकों में सदा स्मरणीय रहेगा।

जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि सरदार साहब की शैली का सीधा सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व से है, उसका प्रमाण यह भी है कि आपके जीवन पर स्वामी रामतीर्थ का गहरा प्रभाव था। आपने वेदान्त दर्शन के अद्वैत सिद्धान्त को अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। साँसारिक जीवन के प्रति विराग और उस अव्यक्त विराट् चेतन सत्ता (ब्रह्म) के प्रति असीम अनुराग रखकर ही आप बोलते, लिखते और समस्त क्रिया-कलाप में लीन रहते थे। आपका ध्रुव विश्वास था कि यदि ईश्वरीय सत्ता पर अपने को पूर्ण रूप से छोड़कर साँसारिक कार्य

किये जाँय तो शाश्वत सुख की प्राप्ति सम्भव है। इसी निष्काम भावना को आपने अपने निबन्धों में भी व्यक्त किया है। भावुकता के आवेश में जैसे कंठ गद्गद होकर आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है वैसे ही आपकी लेखनी से भावनाओं का झरना फूटा पड़ता है। लिखते समय आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उस विषय के विविध पहलुओं पर तरह-तरह से प्रकाश डालते हैं। एक ही बात को कहने के लिये अनेकानेक उदाहरण, दृष्टान्त, प्रमाण, तर्क-युक्ति आदि प्रस्तुत करना भी आपकी अपनी शैली है। विचारात्मक (Reflective) विषय को भी कहानी के मनोरम वातावरण में प्रस्फुटित करने की अद्भुत क्षमता आप में है।

पंजाबी होने पर भी आपकी भाषा में अनूठा लोच, मार्दव और जादू है जो सरसता और स्निग्धता के साथ प्रवाह पूर्ण अभिव्यक्ति का सुन्दर निदर्शन बनकर पाठक को बरबस मुग्ध कर लेता है। वाक्यों का गठन कहीं चुस्त तो कहीं व्यस्त, वाक्य कहीं छोटे तो कहीं फैले हुए, कहीं उर्दू-फ़ारसी का पुट तो कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों की छटा। संक्षेप में, विचित्र वाक्य-विन्यास की अद्भुत शैली होने पर भी निबन्ध के मौलिक गुणों का निचय देखकर आश्चर्य होता है। भावों में दार्शनिकता का पुट रहने से गंभीरता और गरिमा का जो वातावरण लेखक उत्पन्न कर लेता है वह कई दृष्टियों से सराहनीय है। निबन्ध-लेखक की सफलता इसी में है कि वह विषय-बोध के साथ पाठक को अपनी भावनाओं में लीन करले। आपके निबन्ध पढ़ते समय पाठक पर ठीक वही प्रभाव पड़ता है जो लेखक के अन्तरतम में है। कृत्रिमता, शब्दचमत्कार, विदग्धता आदि को बचाकर सहज रूप में अपनी बात कहना ही आपकी शैली है।

प्रस्तुत निबन्ध में लेखक ने यह प्रदर्शित किया है कि साधारण कोटि के जो व्यक्ति अपनी जीविका के लिए मजदूरी–मिहनत करते हैं वे भी उतने ही महान् और गौरवशाली हैं जितने समाज

के उच्चवर्ग के धनी-मानी समझे जाने वाले व्यक्ति। गडरिया, लोहार, मोची, मज़दूर सभी अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म से आँके जाते हैं पद-प्रतिष्ठा या पैसे से नहीं। ईश्वर के दरबार में ऊँच-नीच का साँसारिक मापदंड नहीं है, वहाँ तो कर्म की साधुता और ईमानदारी ही एकमात्र मापदंड है। मोटा खाकर और मोटा पहन कर एक मज़दूर गौरव-गरिमा की मंजिल तक पहुंच सकता है क्योंकि ईश्वरीय प्रेम के लिए कोई बाह्य प्रतिबन्ध नहीं। कर्त्तव्य-पालन में ही गौरव की प्रतिष्ठा है और कर्त्तव्य के लिए मज़दूरी का क्षेत्र भी उतना ही उच्च है जितना कोई और महान् कहलाने वाला कार्य-क्षेत्र।

निबंध की शैली में कथा की मनोरंजकता और वर्णन की अनुपम छटा देखकर पाठक मुग्ध हुए विना नहीं रह सकता।

: ३ :

मज़दूरी और प्रेम

[अध्यापक पूर्णसिंह]

हल चलाने वाले और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग़ के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण ज़मीन में गिर कर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नज़र आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेतो उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की निरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा, जप और तप यह नहीं करता, सन्ध्या वन्दनादि इसे नहीं आते, ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं, मस्जिद, गिरजे, मन्दिर से इसे सरोकार नहीं, केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठण्डे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल

उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैलों और गौवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिन्तनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं का चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुज़ार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उसकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बेमुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लंगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नंगों का पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गडेरिए का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गडेरिए को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गडेरिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लीला छाई हुई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सुफेद हैं। और, क्यों न सुफेद हों ? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्यायें उसके साथ जंगल जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर है, ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दारे फानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोंपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गडेरिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे, इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे, इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और बन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते-देखते गल गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की उन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुज़र गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम-झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढ़ा गडेरिया आनन्द-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़ कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानन्द का समां बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उसे कहा "भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस बनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जाएँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चन्द्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस

गडेरिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटांग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मन्द-मन्द हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडेरिए के परिवार की प्रेम-मज़दूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

मज़दूर की मज़दूरी

आपने चार आने पैसे मज़दूर के हाथ में रख कर कहा "यह लो दिन भर की अपनी मज़दूरी।" यह क्या दिल्लगी है ! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीज़ें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मज़दूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज़ ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मज़दूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज़ के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज़ याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज़ भरत-मिलाप का सा समां बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है, दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक एक

टांके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त "हे राम" कह कर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मज़दूरी और ऐसा काम प्रार्थना, सन्ध्या और नमाज़ से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है! रेफ़ेल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कलाकुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु, साथ ही, उसमें छिपी चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं, परन्तु यन्त्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज़ में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज़ में कहाँ? जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ़ करता हूँ, उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बन्द किए हुए अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज़

में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को ज़िन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे सूखे भोजन में कितना रस होता है! जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठण्डा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद् रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेमभरी, रसभरी, दिलभरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अन्धेरी रात पर सफेदी सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते गाते अन्न को अपने हाथों से पीस कर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हांडी। जब मेरी प्रिया घर की छत से नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रङ्गीली, जीती जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रातःकालीन शोभा सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसके छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नज़र आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी

बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभो-लालिमा से भी अधिक आनन्ददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मज़दूरी और कला—

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हज़ारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता, सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाए तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्यपूजा ही सच्ची ईश्वरपूजा है। मन्दिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है, यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मज़दूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मज़दूरी, बिना हाथ के कला कौशल के विचार और चिन्तन किस काम के? सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन अन्त में पाप, आलस्य, भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मज़दूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर प्राप्त करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मज़दूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष

हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रह कर मनुष्यों की चिंतन शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आज-कल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने ज़माने की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँआरेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार की कलाकौशल से पूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिये। यह नया साहित्य मज़दूरों के हृदय से निकलेगा। उन मज़दूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनन्द के साथ खेत की मेंड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टांकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेज़बान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मज़दूरों की मज़दूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नए कवि पैदा होंगे, तभी नए औलियों का उद्भव होगा। परन्तु ये सब के सब मज़दूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मज़दूर ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मज़दूरी और फकीरी—

मज़दूरी और फकीरी का महत्व थोड़ा नहीं। मज़दूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मज़दूरी किए फकीरी

का उच्च भाव शिथिल हो जाता है, फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है, बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीज़ें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं, परन्तु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है, जल बह रहा है, बादल बरस रहा है, पक्षी नहा रहे हैं, फूल खिल रहा है, घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए, मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी। ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य सुख मानता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगंध लो, ठण्डी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात समय जागना बुद्धि और अन्तःकरण को तरो-ताज़ा करता है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देता है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानों सोते सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-सन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परन्तु इस साल वाले ताज़े हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगंध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते, वे सदा एक ही से रहते हैं। परन्तु मज़दूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताज़ा खुदा नज़र आने लगता है।

गेरुए वस्त्र की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घण्टी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज़ क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल-सन्ध्या क्यों करते हो? मज़दूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा

और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मज़दूरी तो मनुष्य के समष्टि रूप का व्यष्टिरूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नक़दी बयान है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रङ्ग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है, क्योंकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई बहन हैं। अपने ही भाई बहनों के माता पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुम्बवत् है। लंगड़े, लूले, अन्धे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान्, निरोग और रूपवान कुटुम्बी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और निरोग ही तो करेंगे। आनन्द और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मज़दूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना-सहित होकर भी मज़दूरी निष्काम होती है, क्योंकि मज़दूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिये जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है परन्तु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्य-मण्डल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अन्त में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ

उसके जीवन को मानों उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परन्तु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं, वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्य-मण्डल के साथ की चाल है, और अन्ततः यह चाल जीवन का परमार्थ रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मज़दूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

मज़दूरी करना जीवन-यात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन आफ आर्क की फकीरी और भेड़ें चराना, टाल्स्टाय का त्याग और जूते गांठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तम्बू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रङ्गमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् कृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हांकना सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज-का पालन करने वाली दूध की धारा—

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर दूर से साधु आये हुये थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमन्त्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इन्कार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक मंगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो, अपने घर से हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करने वाली दूध की धारा

है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मज़दूरों की उङ्गलियों से निकलती है।

मज़दूरी करने से हृदय पवित्र होता है, संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मज़दूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हज़ारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान निवासी काग़ज़, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियां बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीज़ें मशीन से बनी हुई चीज़ों को मात करती हैं। संसार के सब बाज़ारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उङ्गलियाँ सारे काम करती हैं। इन उङ्गलियों के ही बल से, सम्भव है हम जगत को जीत लें।

जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उङ्गलियाँ मिल कर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मज़दूरी की बदौलत कुबेर का माल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य चिन्ह से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते-डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से

मनुष्य जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मज़दूर और मज़दूर की मज़दूरी का सत्कार नहीं होता, जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करने वालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मज़दूरी सुन्दरता का अनुभव कराने वाले कला कौशल, अर्थात् कारीगरी, का रूप हो जाता है। इस देश में जब मज़दूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मज़दूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शान्ति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मज़दूरी है, परन्तु मन के गुप्त भावों और अन्तःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मज़दूरी है। शिवजी के ताण्डव नृत्य को और पार्वती जी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियां तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात् वहाँ वालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट करने वाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं; वे जीती-जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देव स्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिए जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मज़दूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करने वाले भूखों मरते हैं तब हमारे मन्दिरों की मूर्तियाँ कैसे सुन्दर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और

शालग्राम की पूजा होना असम्भव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श—

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शाने वाले देवता रस्किन और टालस्टाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होने वाला है, वहाँ के गम्भीर विचार वाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेने वाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्व-ज्ञान हुआ है। और, हो क्यों न ? इंजनों के पहियों के नीचे दबकर वहां वालों के भाई-बहन, नहीं नहीं, उनकी सारी जाति पिस गई, उनके जीवन के धुरे टूट गये, उनका समस्त धन घरों से निकल कर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं, मज़दूरों के हाथ पाँव फट रहे हैं, लहू चल रहा है, सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखण्ड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परन्तु अमीरी भी मानसिक दुःखों में विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिए, मज़दूरों को सुख देने के लिए, परन्तु वे काली-काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिए मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली-काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मज़दूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिंगन करने की। पश्चिम वालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं,

परन्तु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे, पूर्व वाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनन्द अनुभव करते हैं। यदि हम में से हर आदमी अपनी दस उङ्गलियों की सहायता से साहसपूर्बक अच्छी तरह काम करे तो हमीं, मशीनों की कृपा से बढ़े हुए पश्चिम वालों को वाणिज्य के जातीय संग्राम में ही सहज पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ पश्चिम में आने वाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मज़दूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा-नंगा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मज़दूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डङ्का बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र बन जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य जाति के आनन्द-मङ्गल का एक साधारण सा और महातुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है, ईश्वर को भूल जाना है, अपने भाई-बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देने वालों को मार कर अपने सुख के लिए शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़े से काटना है। अपने प्रियजनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत के मङ्गल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करने वाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रता-

पूर्ण नेत्रों से निकल कर बहती है तब वही जगत में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक एक प्याला घर घर में, कुटिया कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मज़दूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीत आशिकों की तन मन निसार करना।
रोना, सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

श्री श्यामसुन्दरदास

श्री बाबू श्यामसुन्दरदास का जन्म सम्वत् १६३२ में काशी के एक खत्री घराने में हुआ था। शैशव में आपने उर्दू-फ़ारसी के माध्यम से ही शिक्षा प्राप्त की। बाद में प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया और सैंट्रल हिन्दू स्कूल में अध्यापक हो गये। उसके बाद लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे। काशी विश्वविद्यालय में हिंदी एम० ए० प्रारम्भ होने पर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बने और आजीवन वहीं हिन्दी अध्यापन का कार्य करते रहे। आपकी अध्यक्षता में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'हिन्दी-शब्द-सागर' नाम का बृहत्कोश प्रकाशित हुआ। विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ाये जाने योग्य अनेक ग्रन्थों का आपने निर्माण किया। साहित्या-लोचन, रूपकरहस्य, हिन्दी भाषा और साहित्य, भाषा-विज्ञान आदि आपके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। आपको सरकार द्वारा रायबहादुर तथा हिन्दू विश्व-विद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य-निर्माताओं में अपनी कार्य-प्रणाली और साहित्य-सेवा की दृष्टि से बाबू जी का विशिष्ट स्थान है। हिंदी भाषा को व्यापक, सर्वजन-सुलभ और समृद्ध बनाने के लिए आपने जो कार्य किया वह विगत अर्द्ध-शताब्दी की आपकी सबसे बड़ी देन है। हिंदी भाषा को राजकीय भाषा बनाने का आन्दोलन, हिंदी को उच्च कक्षाओं में पठन-पाठन तथा अध्ययन के योग्य बनाने का कार्य आपका ही है।

अध्यापक होने के नाते आपकी गद्य-शैली में सुबोधता, सरलता और विषय-प्रतिपादन की नैसर्गिक क्षमता है। उनका कहना था कि विकास-शील साहित्य को विषयानुकूल शब्द-निर्माण के प्रति उदासीन नहीं रहना

चाहिए। आपकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही बाहुल्य है किंतु प्रतिपादन शैली को सरल और सुबोध रखने के लिए वाक्य-विन्यास में जटिलता नहीं रहती। शास्त्रीय विषयों के प्रतिपादन में आपकी भाषा भाराक्रान्त अवश्य हो जाती है किंतु आप एक ही बात को घुमा-फिरा कर कई बार लिखते हैं—'तात्पर्य यह है' 'अन्त में', 'संक्षेप में,' 'कहने का प्रयोजन यह है' आदि पदावली का प्रयोग करके तीन-चार बार तक आप एक ही बात को समझाते रहते हैं।

आपके निबन्धों की शैली अपेक्षाकृत सरल और सीधी है। भाषा सुगठित और विषयानुरूप सुसम्बद्ध रहती है। उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग आपकी भाषा में प्रायः नहीं रहता। मुहावरे और लोकोक्तियों का भी अभाव ही है। व्यंग्य, वक्रोक्ति, हास-परिहास आदि भी आपके निबंधों में नहीं पाये जाते। यही कारण है कि आपके निबन्ध न तो मनोरंजक होते हैं और न वैयक्तिकता के गुण से विभूषित ही। साहित्यिक विषयों पर ही आपने निबन्ध लिखे हैं जिनमें विषय-वस्तु का स्थूल रूप में प्रतिपादन हुआ है। सूक्ष्म-चिन्तन या कल्पना को आपके निबन्धों में स्थान प्राप्त नहीं हुआ। संक्षेप में, आपके निबन्ध मौलिकता का कोई अनुकरणीय आदर्श उपस्थित नहीं करते, उनकी यदि कोई उल्लेख्य विशेषता है तो वह यही कि उनमें विषय-प्रतिपादन के अनुरूप भाषा का एक वैज्ञानिक रूप देखने को मिलता है जिसमें प्रांजलता और परिमार्जन तो है किन्तु प्रवाह और स्निग्धता का अभाव है।

'समाज और साहित्य' शीर्षक निबन्ध एक विचारोत्तेजक निबन्ध है जिसमें समाज और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए समाज के अस्तित्व और विकास में लेखक ने साहित्य का प्रयोजन बताया है। जिस प्रकार स्थूल जगत् का विकास शनैः शनैः विकास-क्रम से होता है और उसमें गति-प्रगति आती है, उसी प्रकार सूक्ष्म मानस जगत् में भी भाव-भावनाओं का विकास-परिष्कार होता है और मानव जाति सभ्य-सुसंस्कृत होती जाती है। साहित्य के द्वारा जगत् की गतिविधि का जिस रूप में आकलन

होता है वह भी इस लेख में बताया गया है। राज्य-क्रान्ति, युद्ध, विप्लव, संघर्ष और सत्ता के उलट-फेर में साहित्य का बड़ा हाथ रहा है। जीवन-निर्माण में साहित्य का विपुल प्रयोजन है। साहित्य की कसौटी स्थिर करते हुए लेखक ने कहा है कि मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला और चरित्र का निर्माण करने वाला साहित्य ही यथार्थ साहित्य है। उसके बाद हिन्दी साहित्य की गतिविधि पर प्रकाश डाला गया है और उसकी सीमा तथा शक्तियों का परिचय है। साहित्य की प्रयोजनीयता महत्व और मर्यादा का इस निबन्ध में अच्छा विवेचन है।

: ४ :

समाज और साहित्य

[श्यामसुन्दर दास]

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइये, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छानबीन करते जाइए, उतनी ही नई-नई श्रृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जाएँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष, कहाँ एक बिन्दु मात्र पदार्थ कहाँ उससे उत्पन्न मनुष्य। दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध ! तनिक सोचिए तो सही, एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या-क्या भरा हुआ है। उस नाम-मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर, पत्र, पुष्प, फल से सम्पन्न हो, वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। कैसे बिंदु मात्र पदार्थ से मनुष्य का शरीर बनता है, कैसे क्रम क्रम से नवजात बालक के अंग पुष्ट होते जाते हैं, उसमें नई शक्ति आती जाती है, उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता है, उसमें भावनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं और समय पाकर वह उस शक्ति से सम्पन्न हो जाता है, जिससे वह अपनी ही सी सृष्टि की वृद्धि करता जाय। फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणियों की भिन्नता कैसी आश्चर्यजनक है, कोई बलवान् है तो कोई विचारवान्, कोई न्यायशील है तो कोई अत्याचारी, कोई दयामय है तो कोई क्रूरातिक्रूर, कोई सदाचारी है तो कोई दुराचारी, कोई संसार की माया में लिप्त है तो कोई परलोक-

चिन्ता में रत। पर क्या इन विशेषताओं के बीच कोई सामान्य धर्म भी है या नहीं ? विचार करके देखिये। सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अन्त में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं, पर यहीं उनकी समाप्ति नहीं है, यहीं उनका अन्त नहीं है। वे सृष्टि के कार्य्य-साधन में निरन्तर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। यों ही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जांच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जंगली अवस्था में थे। वे झुंडों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एक-मात्र उद्देश्य उदर की पूर्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बांध रखना पड़ा। इसका लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानों उनके पशु-पालन विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे-धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिए-लिए घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान पर रहकर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब वृत्ति की ओर उनका ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं

और भूभागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएँ बन गईं। आपस में लेन-देन होने लगा। एक वस्तु देकर दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यहीं मानों व्यापार की नींव पड़ी। धीरे-धीरे इन गांवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी सम्पत्ति को वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है, अर्थात् ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता बढ़ती गई त्यों-त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। जहाँ पहले असभ्यता वा जंगलीपन ही में मनुष्य सन्तुष्ट रहते थे वहाँ उन्हें सभ्यतापूर्वक रहना पसन्द आने लगा। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श सभ्यता वह है जिसमें मनुष्य का यह स्थिर सिद्धान्त हो जाए कि "जितना किसी काम के करने का अधिकार मुझे है उतना ही दूसरे को भी है" और उसे इस सिद्धान्त पर दृढ़ रखने के लिए किसी बाहरी अंकुश की आवश्यकता न रह जाए। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती। अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क

की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्व का है।

वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि आदि जीवन-तत्व वा प्राणरस (प्रोटोप्लाज़्म) का एक टुकड़ा, जिसे हम आदि जीव वा जीवाणु (प्रोटोज़ोआ) कह सकते हैं, पहले अपने सब अंगों से सब कार्य करता है। वह शरीर के प्रत्येक भाग से देख, सुन, सूँघ और चल सकता है। पर धीरे-धीरे वह ज्यों-ज्यों विशेष भागों से विशेष कार्य लेने लगता है त्यों-त्यों उनके विषय-रूप बाह्य पंचभूतों का प्रभाव उन भागों का रूप परिवर्त्तित करने लगता है। जिस भाग से देखने का कार्य विशेष रूप से लिया जाने लगा उस पर प्रकाश की लहरें निरन्तर पड़कर उसे उनकी उत्तेजना के लिए संविद् बनाने लगीं। इस प्रकार धीरे-धीरे चक्षुरिंद्रिय का आविर्भाव हुआ। इसी ढंग से अन्य इन्द्रियों और अवयवों का प्रादुर्भाव हुआ और प्राकृत अवस्था के अनुकूल मानव-शरीर की सृष्टि हुई, जो क्रम-क्रम से उन्नति करता हुआ उस अवस्था को प्राप्त हुआ जिसमें आजकल हम उसे पाते हैं। जीव-सृष्टि के आदि में सब आरंभिक जीव समान ही थे पर सबने एक सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अंत में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। जिसने कुछ काम न लिया वह अवनत दशा में ही रह गया। यही कारण सृष्टि की विभिन्नता और विचित्रता का वैज्ञानिकों ने निर्धारित किया है। ठीक यही अवस्था साहित्य रूपी उत्तेजना से सामाजिक मस्तिष्क की होती है। जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है वैसे ही समाज के

मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भाव-सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है उसी के संचित भण्डार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को पढ़ या सुनकर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृंखला बंध जाती है जिससे साहित्य के विशेष-विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिये साहित्य-रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिए अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों पर प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीतप्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के

सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम-क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिन्ता ही कहाँ रह जाती है। भारत-भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ा-क्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहां उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से मन हटा कर जीव, जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँस कर इन्द्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या श्रृंगाररस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने अब तक निवेदन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भांति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-सम्बन्धी शक्ति पोप के हाथ में आगई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया और यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम उसने जो किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़नी के

लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध-धर्म और आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इस्लाम और हिन्दू-धर्म जब परस्पर पड़ौसी हुए तब दोनों में से कूप-मण्डूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्रनिर्माण में सहायता नहीं दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ २ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग हो नहीं सकता।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघशक्ति का संचार जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुखलोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो

भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुन्दर सांचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जनसमुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

पर क्या यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि ऐसे साहित्य के उत्पादन का उद्योग हिन्दी ही में किया जाय? क्या अन्य भारतीय देशभाषाओं में इसका सूत्रपात नहीं हो चुका है और क्या उनसे हमारा काम न चलेगा? मेरा दृढ़ विश्वास है कि समस्त भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही ऐसी है जो मातृभूमि की सेवा के लिए सर्वथा उपयुक्त है और जिससे सबसे अधिक लाभ की आशा की जा सकती है। गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं का आधुनिक साहित्य हमारी हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य से कई अंशों में भरा-पूरा है, पर उनके प्राचीन साहित्य की तुलना हिन्दी के पुराने

साहित्यभांडार से नहीं हो सकती, इस कारण उन्हें परम्परा की प्राचीनता का गौरव प्राप्त नहीं है। जैसे किसी जाति के अभ्युत्थान में उसके प्राचीन गौरवान्वित इतिहास का प्रभाव अतुलनीय है वैसे ही भाषाओं को क्षमता प्रदान करने में उसकी प्राचीन परम्परा का बल भी अत्यन्त प्रयोजनीय है। किसी लेखक ने बहुत ठीक कहा है कि इतिहास का मूल्य स्वतंत्रता से भी बढ़कर है। स्वतंत्रता खोकर भी हमें इतिहास की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इतिहास के द्वारा हम फिर स्वतंत्रता पा सकते हैं पर स्वतंत्रता के द्वारा खोए हुए इतिहास को हम फिर नहीं प्राप्त कर सकते। जिन जातियों का प्राचीन इतिहास नहीं है, जिन्हें अपनी प्राचीनता और पूर्व-गौरव का अभिमान नहीं वे या तो शीघ्र ही निर्मूल हो जायेंगी अथवा अपनी जातीयता के सारे लक्षण खो बैठेंगी। पर जिनका इतिहास वर्त्तमान है, जिनको अपने पूर्वजों का गौरव है, जो अपनी जननी-जन्मभूमि के नाम पर आँसू बहाती हैं वे पददलित होकर भी जीवित रह सकती हैं और फिर कभी अनुकूल अवसर पाकर अपना सिर ऊँचा कर सकती हैं। ठीक यही अवस्था भाषाओं के प्राचीन भांडार की है।

दूसरा गुण जो हिन्दी में और भाषाओं की अपेक्षा अधिक पाया जाता है वह यह है कि इसका विस्तार किसी प्रान्त वा स्थान की सीमा के भीतर बद्ध नहीं है। समस्त भारतभूमि में एक कोने से दूसरे कोने तक इसका थोड़ा बहुत आधिपत्य जमा हुआ है और इसके द्वारा एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के रहने वालों से अपने मनोगत भावों को येन-केन-प्रकारेण प्रकाशित कर सकते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो राष्ट्रीयता के लिए यह एक आवश्यक गुण है। तीसरा गुण जिसके कारण हिन्दी का स्थान और भाषाओं की अपेक्षा उच्च है वह उसका अपनी मातामही से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन सब बातों को देखकर यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है और उसी के द्वारा हमें राष्ट्र-निर्माण में अमूल्य तथा वांछनीय

सहायता मिल सकती है। पर वे क्या उपाय हैं जिनसे हिन्दी के इस प्रकार गौरव प्राप्त करने का मार्ग सुगम और सुलभ हो जाय ? मेरी समझ में इन उपायों में सबसे पहला स्थान हमें देवनागरी अक्षरों के वर्द्धमान प्रचार को देना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पहले की अपेक्षा इस समय नागरी का प्रचार बहुत बढ़ चुका है और दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है, फिर भी उन स्थानों में विशेष सफलता देख नहीं पड़ती जिनमें वह बहुत अधिक वांछनीय है। जब एक ओर हम इस लिपि के नैसर्गिक गुणों की ओर ध्यान देते हैं जिनकी बड़े-बड़े विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और जिनके कारण सारा संसार इसके ग्रहण का पक्षपाती हो सकता है और दूसरी ओर अपने ही देश में उसके समुचित प्रचार में बाधाएँ देखते हैं तो न आश्चर्य करते बनता है और न दुःख। इन बाधाओं के कई कारण हैं, जैसे हमारी राजनैतिक स्थिति, अनभिज्ञता और दुराग्रह। इनका निवारण एक दिन में नहीं हो सकता। पर इसमें संदेह नहीं है कि ज्यों-ज्यों इसके गुणों का ज्ञान लोगों को होता जायगा, वे अपने हानि-लाभ को समझने लगेंगे, त्यों-त्यों ये विघ्न-बाधाएँ कम होती जायँगी। फिर भी यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि ये विघ्न-बाधाएँ साधारण नहीं हैं और इनके दूर करने में अनवरत परिश्रम की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मैं एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। जो लोग इसके गुणों को जानते और इसके प्रचार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं वे भी जब "अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः" के सिद्धान्त पर चलने लगते हैं तब यही कहना पड़ता है कि हम लोगों में अभी चरित्र का बड़ा अभाव है। इन लोगों में कपट व्यवहार का आधिक्य देखकर कभी-कभी निराशा का अन्धकार हृदय पर छा जाता है। पर निश्चय जानिए कि अब सार्वजनिक जीवन सुगम नहीं रह गया है। जो लोग सार्वजनिक कामों में अग्रसर होने का विचार रखते हैं उन्हें अपने व्यवहार और बर्ताव में बहुत कुछ परिवर्तन करना होगा और जन-साधारण को अपने साथ

लेकर चलना पड़ेगा। अब वह समय नहीं रहा कि लोग भेड़-बकरियों की तरह हाँके जा सकें।

एक और उपाय वांछनीय साहित्य उत्पन्न करने का उपयुक्त प्रणाली पर शिक्षा का विधान है। इस विधान में सबसे आवश्यक प्रश्न शिक्षा का माध्यम है। कुछ महाशयों की सम्मति में शिक्षा का माध्यम देश-भाषाओं को बनाने का अर्थ अँगरेज़ी के पढ़ने-लिखने में बाधा उपस्थित कर क्रमशः उसे कम करते जाना और इस प्रकार जातीयता के उद्धार पर कुठाराघात करना है। समझदार लोगों में कोई ही ऐसा होगा जो इस बात को न स्वीकार करता हो कि हमारे जातीय जीवन या राजनैतिक जीवन के लिए अँगरेज़ी भाषा का जानना परम आवश्यक है। हमें अपने उद्धार के लिये पूर्व और पश्चिम को मिलाना और विचारों के परस्पर परिवर्तन और विनिमय से सहायता लेना नितांत प्रयोजनीय है। इसलिए अँगरेज़ी शिक्षा का कोई विरोधी नहीं हो सकता। पर अँगरेज़ी शिक्षा से यह तात्पर्य नहीं है कि हम अपने को भूल जायँ और अपनी भाषा का समूल नाश कर अँगरेज़ी का बाना पहिन लें। अँगरेज़ी की शिक्षा प्रारम्भ हुए कोई सवा सौ वर्ष हुए होंगे। इतने काल में १५ लाख लोग अँगरेज़ी पढ़ लिख सके हैं। गवर्नमेंट का कथन है कि गत दस वर्षों में अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या ड्योढ़ी हो गई है। इस हिसाब से भी यदि अँगरेज़ी शिक्षा की उन्नति होती जाय तो भी समस्त भारतवर्ष में सब लोगों के अँगरेज़ी जान लेने में सहस्रों वर्षों की आवश्यकता होगी। इसके साथ ही गवर्नमेंट की रिपोर्टों से यह भी विदित होता है कि इस समय ३ करोड़ के लगभग ऐसे पढ़े-लिखे लोग भारतवर्ष में हैं जो अँगरेज़ी बिल्कुल नहीं जानते। गत दश वर्षों में इनकी संख्या में २६ लाख की वृद्धि हुई है। दोनों संख्याओं को मिलाने से यह सिद्धांत निकलता है कि जहाँ अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग प्रति वर्ष ५० हजार बढ़ते हैं वहां देश-भाषाओं के जानने वालों की संख्या २ लाख ६० हज़ार बढ़ती है। इससे जहाँ आधुनिक उन्नति के हिसाब से भी अँग-

रेज़ी के पूर्ण प्रचार में हज़ारों वर्षों की आवश्यकता है वहां देश-भाषाओं के प्रचार में कम से कम ९वाँ हिस्सा कम समय लगेगा। देश-हितैषी लोग अब स्वयं सोच लें कि दोनों बातों में से कौन सी बात निज मातृ-भूमि के लिये हितकर होगी। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में विचार करने की है वह यह है कि किसी भाषा के ज्ञानमात्र को शिक्षा नहीं कह सकते। शिक्षा से तात्पर्य मस्तिष्क के विकास का है जो भिन्न-भिन्न विषयों के मनन से होता है। अँगरेज़ी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता को तो हम मानने के लिये पूर्णतया उद्यत हैं पर हमारी समझ में यह नहीं आता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि हम भारत के मस्तिष्क-विकास के लिए भी एक विदेशीय भाषा का आश्रय ग्रहण करें। इस पद्धति के अनुसार चलने का परिणाम तो यही होगा कि अधिकांश बालकों की सारी आयु एक विदेशीय भाषा की जटिलता के हल करने में लग जायगी, न उनके मस्तिष्क का विकास होने पावेगा और न उन्हें किसी विषय का वास्तविक ज्ञान हो सकेगा। क्या संसार में कहीं का भी आप एक दृष्टांत उद्धृत कर सकते हैं जहाँ बालकों की शिक्षा विदेशीय भाषाओं द्वारा होती है? क्या जापान ने अपनी उन्नति विदेशी भाषा के प्रचार से की? क्या निज मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने के कारण उसके गौरव में, उसके महत्व में किसी प्रकार की कमी हुई? यदि ऐसा नहीं हुआ तो भारतवर्ष में इस अनोखे सिद्धान्त का अनुसरण करने के लिए क्यों उद्योग किया जाता है? इस प्रांत के कांगड़ी ग्राम में इस बात का जाज्वल्य प्रमाण उपस्थित है कि देश-भाषा द्वारा शिक्षा देने में उसके वास्तविक गुणों के अर्जन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होती। अतएव मेरा तो यह दृढ़ सिद्धान्त है कि भारत का इसी में कल्याण है कि जैसे हो वैसे शिक्षा का भरपूर प्रचार किया जाय और यह शिक्षा देश-भाषाओं के द्वारा हो। जो लोग उच्च शिक्षा के अभि-लाषी हों उनके लिए अँगरेज़ी भाषा का अभ्यास आवश्यक और सर्वथा उचित है परन्तु वह भी अन्य या द्वितीय भाषा के रूप में हो।

भारतवर्ष में आधुनिक शिक्षा की उत्पत्ति का मुख्य हेतु यही हुआ कि यहाँ की गवर्नमेंट को अपने काम के लिये अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की आवश्यकता पड़ी। उसी अभाव की पूर्ति के लिये यहाँ गवर्नमेंट ने शिक्षा का कार्य आरम्भ किया। सरकारी नौकरी और शिक्षा का यह अप्राकृतिक सम्बन्ध अब तक चला जा रहा है और यही हमारी शिक्षा-सम्बन्धिनी आपत्तियों का मूल कारण है। संसार के और किसी देश में यह अनुचित सम्बन्ध देखने में नहीं आता है। कहीं भी युनिवर्सिटी की परीक्षाएँ सरकारी नौकरी का द्वार खोलने की कुंजी नहीं मानी जातीं। जिस समय शिक्षा का उद्देश्य उसके वास्तविक लाभों को फैलाना हो जायगा उसी समय हमारी शिक्षा-सम्बन्धिनी आपत्तियाँ दूर हो जायेंगी। न लोगों के लिये नौकरी ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य रह जायगा, न राजनैतिक अवस्था के अनुसार शिक्षा में हेर-फेर होगा और न विश्वविद्यालयों को परीक्षार्थियों के अधिक संख्या में अनुत्तीर्ण करने का अभिमान प्राप्त हो सकेगा।

मैं थोड़ी देर के लिए आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के इन दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है, उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-सम्बन्धी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बँटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा

विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें तो कोई मतभेद नहीं कि जो बोली हिन्दी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रान्त की है। अतः शब्दों के रूप, लिंग आदि का बहुत कुछ निश्चय तो वहाँ के शिष्ट प्रयोग द्वारा ही हो सकता है। जैसे पूरब में दही और हाथी को स्त्रीलिंग बोलते हैं पर पश्चिम में, विशेषकर उक्त प्रान्त में, ये दोनों शब्द पुंल्लिंग स्वीकार करते हैं, यह इसलिये नहीं कि वे संस्कृत के अनुसार पुंल्लिंग व क्लीव होंगे बल्कि इसलिये कि वे पुंल्लिंग रूप में उक्त प्रान्त में व्यवहृत हैं। एक पंडितजी ने अपनी एक पुस्तक में पूरबी और पश्चिमी हिन्दी का विलक्षण संयोग किया है। उनका एक शब्द है 'सूतते हैं'। सूतब क्रिया पूरब की है। उसमें उक्त पंडितजी ने प्रत्यय लगा कर उसे 'सूतते हैं' बनाया। उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि जिस स्थान में 'आते हैं' 'जाते हैं' आदि बोले जाते हैं वहां 'सोते हैं' बोला जाता है 'सूतते हैं' नहीं। उन्होंने 'ने' विभक्ति पर भी अपनी बड़ी अरुचि दिखाई है, यह नहीं समझा कि वह किस प्रकार क्रिया के कृदंत मूलक रूप के कारण संस्कृत की तृतीया से खड़ी बोली में आई है। कुछ लोग, विशेषतः बिहार के लोग, क्रियाओं के रूपों से लिंग-भेद उठाने का चर्चा भी कभी-कभी कर बैठते हैं। पर वे यदि थोड़ी देर के लिये हिंदी भाषा की विकास-प्रणाली पर ध्यान देंगे तो उन्हें विदित होगा कि हिन्दी-क्रियाओं के रूप संस्कृत के सज्ञा कृदंत रूपों के सांचे पर ढले हैं। जैसे 'करता है' रूप संज्ञा शब्द 'कर्त्ता' से बना है। इसी से स्त्रीलिंग में वह संस्कृत 'कर्त्री' के अनुसार 'करती है' हो जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली प्रान्त की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रान्तों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रान्तों के शब्दों का भी अभाव-पूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्म-स्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिये कोई शब्द

नहीं है तो वह दूसरे प्रान्त से, जहां उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिये। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करे और साहित्य का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण में भावों की अनेक-रूपता का विकास करे। ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता हो वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उस में सारे संस्कृत कोशों को ढूँढ़-ढूँढ़कर शब्द रक्खे गए हों और चार-चार अंगुल के समास बिछाए हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अन्तःकरण में जल्दी न धसेंगे वे उच्च कहलावेंगे चाहे उनमें बोल-चाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों से उच्च साहित्य की सृष्टि होगी। जो जनता के बीच नये-नये भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो उनके जीवन-क्रम को उलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिये जितनी बाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरम्भ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ के अवलम्बन द्वारा वह धीरे-धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएँ और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रखकर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है, उसके वाक्यों का रूप रंग कुछ निराला होता है।

किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में भी रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के सम्बन्ध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या। खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्य-क्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। मैंने कई नवयुवकों को कविता के मैदान में एक विचित्र ढंग से उतरते देखा है। छात्रावस्था में उन्होंने किसी अँगरेज़ी रीडर का कोई पद्य उठाया है और तुकबंदी के साथ उसका अनुवाद करके वे उसे किसी कवि या लेखक के पास संशोधन के लिये ले गए हैं। कविता के अभ्यास का यह ढंग नहीं है। कविता का अभ्यास आरम्भ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नये-पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति ग्रन्थों का देखना, रस, अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है। आजकल बहुत सी कविताएँ ऐसी देखने में आती हैं जिन्हें आप न खड़ी बोली की कह सकते हैं न ब्रजभाषा की। उनके लेखक खड़ी बोली और ब्रजभाषा का भेद नहीं समझते। वे एक ही चरण में एक स्थान पर खड़ी बोली की क्रिया रखते हैं, दूसरे स्थान पर ब्रजभाषा की। आशा है कि ये सब दोष शीघ्र दूर हो जायेंगे और हमारे काव्य का प्रवाह एक सुव्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करेगा।

मैं आप लोगों से निवेदन कर चुका हूँ कि सामाजिक मस्तिष्क के विकास और वृद्धि के लिये साहित्य की कितनी आवश्यकता है। वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिये, उसके साधन क्या हैं और उन साधनों के मार्ग में कौन-कौन सी विघ्न-बाधायें उपस्थित हैं जिसका निराकरण कर हम उपयुक्त साहित्य का भावी मार्ग इस प्रकार विस्तृत और परिष्कृत कर सकते हैं कि वह अपने लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ

हो, इन विषयों के सम्बन्ध में भी मैं अपने विचार आप लोगों के सम्मुख उपस्थित कर चुका हूँ। मुझे अब आप से केवल इतना ही कहना है कि जो कुछ हम करना चाहते हैं वह एक या दो-चार व्यक्तियों के करने से पूरा न होगा। उसके लिये हमें अपनी सारी बिखरी हुई शक्तियों को संयुक्त करके उन्हें ऐसी बलवती बनाना पड़ेगा जिससे फिर उनके मार्ग में कोई वस्तु किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करने में समर्थ न हो। बिखरी हुई शक्ति से कोई बड़ा कार्य सुसम्पन्न नहीं हो सकता और संघशक्ति का बल ऐसा प्रबल हो जाता है कि उसका सामना करने का साहस किसी को नहीं होता, उसके आगे सारी विघ्न-बाधाएँ आपसे आप लुप्त हो जाती हैं। इसलिए भाइयो, मित्रो, मातृ-भाषा के सेवको, संघ शक्ति का मूल मन्त्र जपो, उसे अपने हृदय पटल पर भली भाँति खचित करो, उसी को अपनी आराध्य देवी समझ कर सदा उसकी सहायता के इच्छुक बने रहो, फिर आपको अपने उद्देश्यों के सिद्ध करने में ज़रा भी विलम्ब न लगेगा। जिस प्रकार छोटी-छोटी नदियाँ, नाले और अन्य जल-प्रवाह सिमट-सिमट कर एक बड़ी नदी में जा मिलते और उसके वेग को ऐसा प्रबल कर देते हैं कि उसके आगे सभी रुकावटें तृणवत् छिन्न-भिन्न हो उसकी सहगामिनी होती हैं, उसी प्रकार अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों को साहित्य-रूपी सरिता के सबल और संजीवनी-शक्ति-सम्पन्न प्रवाह में सम्मिलित कर उस प्रवाह का घोर निनाद करते हुए राष्ट्रीय समुद्र में ला मिलाइये। फिर देखिये कि किस प्रकार आपकी प्यारी मातृभूमि संसार के समस्त राष्ट्रों में आदरणीय सिंहासन पर विराजने की अधिकारिणी हो जाती है।

क्या आप लोगों ने कभी शुद्ध हृदय से इस बात पर विचार किया है कि माता, मातृभूमि और मातृभाषा का आप पर कुछ ऋण है भी या नहीं? एक जननी आपको जन्म देती है, एक की गोद में खेल-कूदकर और खा-पीकर आप पुष्ट होते हैं और एक आपको अपने भावों को प्रगट करने की शक्ति दे, आपके सांसारिक जीवन को सुखमय बनाती

है। जिनका आप पर इतना उपकार हो उनके लिये कुछ करना क्या आपका परम कर्त्तव्य नहीं है ? प्यारे भाइयो ! उठो आलस्य को छोड़ो, कमर कसो और अपनी मातृभाषा की सेवा में तत्पर हो जाओ। अपने को मातृ-ऋण से मुक्त करो, संसार में सपूत कहलाओ और मातृ-सेवकों में अपनी छाप छोड़ जाओ। पर ध्यान रहे, यह व्रत साधारण नहीं, इसके व्रती बनकर पार पाना तलवार की धार पर चलने के समान होगा। क्षुद्राशय, दुर्बुद्धि, दुराग्रही, छिद्रान्वेषी, ईर्ष्यालु लोग आपकी निन्दा करेंगे, आपका उपहास करेंगे, आपको बनावेंगे, सब प्रकार से आपको हेय सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे, पर आप अपना अटल सिद्धान्त यही बनायें रहें कि चाहे हमारी निन्दा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो जाय चाहे हम अभी बरसों जीयें, चाहे हमें लक्ष्मी अंगीकार करे, चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्र्यमय हो जाय, पर हमने जो व्रत धारण किया है उससे न हम कभी विचलित होंगे, न कभी पराङ्मुख होंगे और न कभी सर्वस्व खोकर भी अपने किये पर पश्चाताप करेंगे। चुपचाप अपने व्रत को पूरा करने का उद्योग करते जाइये। अपने कर्तव्य पर दृढ़ बने रहिये; अपने धर्म का पालन करने में अग्रसर होते जाइये। निश्चय जानिये आपकी विजय होगी, आपके उद्योग सफल होंगे और अन्तकाल में आपको यह सन्तोष होगा कि जगन्नियन्ता जगदीश्वर ने जो आपको मनुष्य-शरीर दिया था उसका उचित उपयोग करने में आप समर्थ हुए हैं और मातृभाषा की सेवा कर आप उससे उऋण हो सके हैं।

श्री रामचन्द्र शुक्ल

श्री शुक्ल जी का जन्म उत्तर-प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना ग्राम में सम्वत् १९४१ में हुआ। आपकी प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा मिर्जापुर में हुई। वकालत पढ़ने के विचार से आप प्रयाग में भी कुछ समय तक रहे किन्तु उसमें सफलता न मिलने पर मिर्जापुर के मिशन स्कूल में अध्यापक के रूप में कार्य करने लगे। शैशव से ही हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति आपका नैसर्गिक प्रेम था। अपने नगर के हिन्दी प्रेमी सज्जनों के पास आने-जाने का क्रम तभी से जारी था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से जब 'हिन्दी-शब्द-सागर' का निर्माण प्रारम्भ हुआ तब आपको भी वहाँ सम्पादक के रूप में कार्य करने का अवसर मिला। उसके बाद हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में आप हिन्दी अध्यापक नियुक्त हुए और जीवन-पर्यन्त वहीं कार्य करते रहे।

द्विवेदी युग के बाद हिन्दी गद्य को गंभीर आलोचनात्मक एवं विचारात्मक निबंध-साहित्य द्वारा समृद्ध करने वाले लेखकों में आचार्य शुक्ल का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यथार्थ में वे ही हिन्दी के सबसे अधिक समर्थ, प्रौढ़, गंभीर और सफल निबंधकार हैं; उनकी तुलना परवर्ती और पूर्ववर्ती किसी निबंध लेखक से नहीं की जा सकती। निबंध-क्षेत्र में मौलिकता के साथ विचार, भाव विवेचन और कल्पना की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करने में भी शुक्ल जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

शुक्ल जी के निबंधों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। उनकी गंभीर, अध्ययनपूर्ण, विवेचनात्मक शैली का निखरा हुआ रूप देखना हो तो सूर, तुलसी और जायसी पर लिखे उनके विस्तृत प्रबन्धों पर दृष्टिपात करना चाहिए। इन प्रबन्धों में उनकी भाषा तत्सम प्रधान,

समास-बहुला तथा वस्तु-विन्यास-परक दृष्टिगत होती है। पांडित्य, अनुसंधान तथा विश्लेषणात्मक सूझ-बूझ की गहराई के कारण पाठक पर लेखक की विद्वत्ता का स्थायी प्रभाव पड़ता है। इन निबंधों में व्यक्तित्व की छाप कम और पांडित्य की छाप अधिक है। उनके दूसरी कोटि के निबंध वे हैं जो भाव और मनोविकारों पर लिखे गये हैं। व्यक्तित्व की अमिट छाप लेकर भाव या मनोविकार का सूक्ष्म विश्लेषण तथा मार्मिक अभिव्यंजना इनमें चरम उत्कर्ष का स्पर्श करती है। इन निबंधों में भाषा की शक्ति का पूर्ण विकास तथा अभिव्यक्ति का लाघव (चुस्ती) देखकर पाठक विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रहता। विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों कोटि के निबंध लिखने में शुक्ल जी को अद्‌भुत सफलता मिली। विचारात्मक निबंधों में भावों के प्रस्फुटन की दो शैलियां प्रचलित हैं। एक आगमन शैली और दूसरी निगमन शैली। आगमन शैली में निबंधकार विषय-वस्तु की व्याख्या करके अन्त में सूत्र रूप से उसका निष्कर्ष प्रस्तुत करता है; निगमन शैली में विषय वस्तु को व्यक्त करने के लिए प्रारम्भ में ही सूत्र-रूप से बात कही जाती है, बाद में उसकी व्याख्या होती है। इसे समास-शैली भी कहते हैं। शुक्ल जी के निबंधों में निगमन शैली का बहुत ही अच्छा परिपाक हुआ है। भाव और मनोविकारों पर लिखे गये लेखों में तो यह शैली चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई है। व्यंग, हास-परिहास और चुहल के साथ मीठी चुटकी लेने में भी शुक्ल जी नहीं चूकते। अपनी बात की स्थापना के लिए निबंध में तर्क, युक्ति, प्रमाण आदि का उपयोग भी यथास्थान करते हैं। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक घटनाओं का संकेत देकर विषय को रोचक बनाना भी आपकी कला का एक अंग है। इस प्रकार के संकेत प्रसंग-गर्भत्व शैली के भीतर आते हैं जो आपके पांडित्य का प्रमाण हैं।

भाषा की दृष्टि से भी शुक्ल जी की मौलिकता स्पष्ट देखी जा सकती है। आलोचनात्मक निबंधों में भाषा संश्लिष्ट, तत्सम-प्रधान और अपेक्षाकृत क्लिष्ट है किन्तु भावों पर लिखे गये निबंधों की भाषा सरल, तद्भव-

प्रधान, मुहावरों से युक्त तथा सुगठित है। कहीं-कहीं उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है। उनका एक-एक वाक्य मोतियों की लड़ी के समान स्निग्ध और कान्तिमय है; उनमें न तो कर्ण-कटुता है और न रूक्षता। वैयक्तिकता के साथ मनोरम अभिव्यक्ति को आद्योपान्त सजीव बनाये रखना ही निबंधकार की सफलता है। शुक्ल जी इस कला में अप्रतिम हैं।

'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबंध मानव मन के दो भावों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। सामान्यतः किसी सुन्दर आकर्षक, नयनाभिराम या इन्द्रियासक्ति के उपयुक्त वस्तु या व्यक्ति को देखकर उसे प्राप्त करने की सहज इच्छा हमारे मन में जाग्रत होती है। क्या वह प्रेम-भावना है? अथवा उसे लोभ कहा जाय? लेखक ने इसका समीकरण करते हुए लिखा है 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख'। इस सूत्र से दोनों का पार्थक्य स्पष्ट होकर दोनों का क्षेत्र भी विदित हो जाता है। लेखक ने देशप्रेम, व्यक्ति-प्रेम, आदि का अच्छा भेद दिखाया है। लोभ की सीमाओं का तथा लोभी व्यक्तियों की मनःस्थिति का भी इस निबंध में अच्छा चित्रण हुआ है। लोभ और प्रीति का क्षेत्र निर्देश करके अन्त में प्रीति का महत्व तथा काव्य में प्रेम के द्वारा शृंगार रस की स्थापना बड़े ही तार्किक ढंग से हुई है।

: ५ :

लोभ और प्रीति

[श्री रामचन्द्र शुक्ल]

किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के विना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं। जब लोभ अप्राप्त के लिये होता है तब तो दुःख स्पष्ट ही रहता है, प्राप्त के सम्बन्ध में दुःख का अंग निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशङ्का मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रहने पर भी मन में इस इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता। हम बैठे-बैठे किसी वस्तु का आनन्द ले रहे हैं और उस आनन्द के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है, तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी रहने दो'। इसके पहले कोरे आनन्द के अभाव में इस इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाय।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या

जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है ; पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज़ सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही अच्छी-अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने बहुत सुन्दर देखा और लुभा गए ; उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुन्दर देखा तो उस पर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूप-लोभी ही माने जायँगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जायगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जायगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे। पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः वह आनन्द स्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है। पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनन्द मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की, इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि 'वह उसे चाहता है'।

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबे जी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबे जी को मिष्ठान्न से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इन्द्रियों के विषय-भेद से अभिरुचि के विषय भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुन्दर मुख अच्छा लगता है, वीणा की तान और अपनी तारीफ़ अच्छी लगती है, जूही और केसर को गन्ध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपुवा अच्छा लगता है, मुलायम गद्दा अच्छा लगता है। ये सब वस्तुएँ तो आपको आनन्द देती हैं इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा बहुत सीधी-सादी और स्वाभाविक कही जा सकती है। पर जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है उसमें चाहे आनन्द देने वाली स्वतः कोई बात न हो, पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है। रुपये के रूप, रस, गन्ध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपये-पैसे का लोभी, धन का लोभी, समझा जाता है। एक धातुखण्ड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनन्द मनुष्य समझता है। पर यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता। धन-संचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है उससे प्राप्य सुख नहीं। वे बड़े से बड़े सुख के बदले में या कठिन से कठिन कष्ट के निवारण के लिये थोड़ा-सा भी धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिये साधन ही साध्य हो जाता है।

स्थिति भेद से प्रिय या अच्छी लगने वाली वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा दो प्रकार की होती है—

१. प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा।

२. दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है—

१. इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो।

२. इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक-साथ रख सकते हों।

इनमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोध-ग्रस्त होती है इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है लगा करे, दूसरों को इससे क्या ? पर जब हम वस्तु की ओर हाथ बढ़ायेंगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाये जायेंगे। दूसरों के लोभ की निन्दा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पाने वाले और न देने वाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है ; देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है ; बराबर माँगा करता है'। रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा कहते हैं—

> रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
> उनतें पहिले वे मुए जिन मुख निकसत 'नाहिं'॥

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के सम्बन्ध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से दो व्यक्तियों में होती है। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा यदि संयोग से कई प्राणियों के चित्त में हुई तो भी विरोध का पूरा विधान होता है। सारांश यह कि दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को बहुत व्याकुल करते हैं।

प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर भी निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते

है—सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं, सब को भाता है, सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। ये लोभ के सामान्य विषय हुए, जिन पर प्रायः मनुष्य मात्र का लक्ष्य रहता है। अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उस पर बहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाब-जामुन या विशेष बूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे, तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जायगा और जिनका ध्यान जायगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय-हाय होती है, सब जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह बहुत से लोगों को एक मैदान में लाकर खड़ा किया करता है जहाँ एक दूसरे की गति-विधि का निरीक्षण और अवरोध बड़ी कड़ी नज़र और पूरी मुस्तैदी से होता है।

यदि मनुष्य-समाज में सब के लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कहीं न मिलते। यदि एक-साथ रहने वाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं की प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती—कोई कितनी गायें रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना चाँदी इकट्ठी करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिसमें मनुष्य-मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक-दूसरे की आँखों में खटकने वाले

लोभ की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहने वाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसन्द करते? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गये। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राजसम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है बड़े बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फ़ीस देकर अपने मुक़द्दमे दाख़िल कर सकते हैं और महँगे वकील-बैरिस्टर करके बढ़िया ख़ासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यन्त भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गये। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया; केवल वाणिज्यधर्म रह गया।

व्यापारनीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिये लड़ने वाले सौदागर हो गये। जिस समय क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी-कभी विजय-कीर्ति की कामना से डंके की चोट चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन हरण करने की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न-भिन्न राज्यों की परस्पर सम्बन्ध-समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फ़िक्र में दिन-रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शांति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्रधर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जायगा।

सामान्य-विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोभ-दृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है। अच्छे भोजन की सबको चाह होती है अतः उसे बहुत चाहने वाला लोभी कहला सकता है। पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी को मिठाई की चाह अधिक रहे तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाब-जामुन की अधिक चाह रहे तो और भी कम क्या कुछ भी न समझा जायगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ यदि कोई एक किसी को बहुत पसन्द आजाय और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वसिष्ठ की गाय बहुत पसन्द आई और वे उसके बदले में बहुत सी गायें देने के लिये तैयार हो गये पर वसिष्ठ ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिये लड़भिड़ कर भी न वसिष्ठ लोभी कहलाये, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चन्द्र का एक अलबम बहुत पसन्द आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनमें स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज़ देखते ही जिनके मुँह में पानी आ जाता है, वे बराबर खरी-खोटी सुना करते हैं। एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष-विषय-गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिये कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिये अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गये थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा वाले लोभ की बात हुई जिसका प्रायः विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा का विचार

करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के सम्बन्ध में बहुत से लोग बिना किसी विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई बाधा या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक -प्रायः जिसे बाधा या कष्ट होता है— बुरा कहता है— फिर दूसरा, फिर तीसरा इसी प्रकार बहुत से बुरा कहने वाले हो जाते हैं। सारांश यह कि जो लोभ दूसरे की सुख-शांति या स्वच्छंदता का बाधक होता है, अधिकतर वही निंद्य समझा जाता है। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी के बग़ीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है? यदि हम किसी वस्तु पर लुभा कर उससे उतना ही सम्पर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एकसाथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बग़ीचे को आँख से एकसाथ बहुत लोग देख सकते हैं पर उसमें से फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बन्द किये देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि-सम्पर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा का बाधक न होकर साधक होती है वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत-से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लुटेरे व डाकू इसी प्रकार दलबद्ध होकर काम करते हैं।

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह

भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणयसौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिये कि, "भाइयो ! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुये उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े, या खड़े-खड़े, तुम बिलायती बोली में अर्थ-शास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।" प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हित-चिन्तन और हित-साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका सम्बन्ध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

> नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
> केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

रसखान तो किसी की "लकुटी अरु कामरिया" पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझ कर, या कम से कम न खीझ कर, बिना मन मैला किये कमरे की फ़र्श भी मैली होने देंगे ? मोटे आदमियो ! तुम ज़रा-सा दुबला हो जाते--अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।

अब पूछिये कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार हो भी सकता है ? हाँ, हो सकता है—परिचय से, सान्निध्य से। जिस

प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह आता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकला है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिये हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुँड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच से गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो-दो बातें करो; उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जाएगा, तुम उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अन्तःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हम से कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्तमान प्रेमसूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भव-भूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हारे प्यारे हो जायँ। इनके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में

अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर एक छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व-विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला— "महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे टोक कर कहा "यहाँ महुए-महुए का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि प्रवृत्ति-भेद से प्रिय वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा दो प्रकार की होती है—प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा तथा दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका। अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है। रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती है—

१. स्वायत्त रक्षा की इच्छा अर्थात् केवल अपने अधिकार में रखने की इच्छा।
२. स्व-निरपेक्ष रक्षा की इच्छा अर्थात् केवल बने रहने देने की इच्छा।

स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना से सम्बद्ध रहती है। इससे वह कभी कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है जिसका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग करते हैं। यदि उनमें से कोई एक अकेले उसकी रखवाली करने चले और किसी को पास न आने दे तो सब लोग मिलकर विरोध करेंगे। पर कभी-कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के उस अविश्वास

के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग आदि में औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सबको सुख और आनन्द है तो उस पर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा, रक्षा के भाव की एकता के कारण, परस्पर मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी। यदि दस आदमियों में से सबकी यही इच्छा है कि कोई मंदिर बना रहे, गिरने-पड़ने न पाए अथवा और अधिक उन्नत और सुसज्जित हो, तो यह सम्मिलित इच्छा ऐक्य-सूत्र होगी। मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर-उपदेश कुशल' नीतिज्ञों का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छान-बीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न हैं। मुझे तो यह कहना है कि इन-इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है। अब मेल से क्या-क्या लाभ होते हैं, यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।

लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्त्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस लोभ में दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जबकि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि पहुँचती हो। कोई सुन्दर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेती की हानि किया करता है। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहनेवाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम

इसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं। मनुष्य के प्रयत्नों की पहुँच बहुत परिमित होती है। अतः जो प्रेम-क्षेत्र जितना ही निकटस्थ होगा उसमें उतने ही अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होगी और जो जितना ही दूर होगा, प्रयत्नों का उतना ही कम अंश उसके लिए आवश्यक होगा। सबसे अधिक घर की रक्षा का, फिर पुर या ग्राम की रक्षा का और फिर देश की रक्षा का ध्यान जनसाधारण के लिए स्वाभाविक है। पर जिनकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है, जिनके अन्तः-करण में परार्थ को छोड़ स्वार्थ के लिए अलग जगह नहीं होती, वे इस क्रम का विपर्यय कर दिखाते हैं। वे देश की रक्षा के लिये अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या प्राण तक का लोभ छोड़ देते हैं। पर ऐसे लोग विरले होते हैं। सबसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अब घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम कहाँ तक विरोध शून्य होता है, यह भी देखिए। इनका अविरोध परिमित होता है—घर के भीतर, पुर या ग्राम के भीतर ही उसके होने का निश्चय रहता है। घर के बाहर, पुर या ग्राम के बाहर, देश के बाहर विरोध करने वाले मिल सकते हैं। एक घर की रक्षा दूसरे घर वालों से, एक पुर की रक्षा दूसरे पुर वालों से और एक देश की रक्षा दूसरे देश वालों से करनी पड़ती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेदभाव भेदकर अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं—जिस स्थिति में भूमंडल के समस्त प्राणी, कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध के परे हैं। उनसे जो विरोध रखें वे सारे संसार के विरोधी हैं; वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनन्द देती रहे और कोई वस्तु बनी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्त रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा ये दो विभाग पहले किए गए हैं। अतः पहली को यदि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहें तो बहुत अनुचित न होगा।

वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमें सुख या आनन्द न मिल सकेगा, इसी से हम उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होते हैं। यदि ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिए जाता हो और वह बीच में नष्ट हो जाए, तो हमें दुःख न होगा; क्योंकि जब चीज़ हमारे हाथ से निकल गई, हमें वह सुख या आनन्द दे ही नहीं सकती, तब वह चाहे रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि ले जाने वाले के प्रति हमें क्रोध होगा या ईर्ष्या होगी तो हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तु-रक्षा की इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी। हम किसी दशा में उस वस्तु का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने क़ाज़ी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे को लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी कि बच्चा मेरा है, दूसरी कहती थी मेरा। क़ाज़ी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा—"अच्छा, तुम दोनों को बच्चा काट कर आधा-आधा बाँट दिया जायगा।" इतना सुनते ही दोनों में से एक स्त्री घबराकर बोल उठी—"जाने दीजिए, बच्चा मुझे न चाहिए, उसी को दीजिए।" क़ाज़ी साहब समझ गए कि बच्चा इसी का है। वह स्त्री बच्चे की माँ थी अतः उसे उसका सच्चा लोभ था।

अब तक लोभ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया वह उसका व्यापक अर्थ लेकर। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, 'लोभ' शब्द कहने से आजकल प्रायः धन के लोभ की भावना होती है, प्राप्ति या रक्षा की उस इच्छा की ओर ध्यान जाता है जो जीवन-निर्वाह की सामग्रियों के प्रति होती है। धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिए कि धन के बिना संसार में रहना सम्भव नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकट्ठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिए, कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिए, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की आशंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्य-भावना के। इनमें से प्रथम श्रेणी के लोग तो धन को चाहे जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिए चाहे जितने आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न

नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहें वे बड़े भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की सम्भावना क्रमशः बढ़ते-बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय-कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट निवारण की इच्छा, अधिक सुख-प्राप्ति की इच्छा, सुखाभाव या कष्ट की आशङ्का—ये तीनों धन और उसकी प्राप्ति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती है। जहाँ इन तीनों में से कोई परदा नहीं रहता वहाँ शुद्ध धन-लोभी की जघन्य मूर्ति साक्षात् दिखाई पड़ती है।

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है इसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अति-क्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता है। और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असन्तोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिए स्थायी अनवकाश हो जाता है। और मनो-विकारों में यह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है पर उन बातों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर भी चिढ़ जाता है जिनसे और लोग नहीं चिढ़ते, पर वह सदा इस फेर में नहीं घूमा करता कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध से आगबबूला होने वाले तुरन्त करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी-पानी होते हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि में अन्य वृत्तियों का जो बोध होता है वह प्रायः क्षणिक होता है, पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है कि लोभ का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभी को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है। धन का लोभी धन पाकर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता;

या तो भले-बुरे का सब विचार छोड़ रक्षा में तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्यमुख वृत्तियों का जो स्तम्भन होता है, वह स्वभावान्तर्गत हो जाता है। अस्तु, स्थूल रूप से उद्धत लोभ के दो उग्र लक्षण कहे जा सकते हैं—

(१) असन्तोष।

(२) अन्य वृत्तियों का दमन।

लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपभोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार-बार मिले या बराबर मिलती रहे। धन का लोभ जब रोग होकर चित्त में घर कर लेता है तब प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा बराबर जगी रहती है जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्त के आनन्द से विमुख रहता है। जितना नहीं है उतने के पीछे जितना है उतने से प्रसन्न होने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता। उसका सारा अन्तःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए जो है वह भी नहीं है। असन्तोष अभाव-कल्पना से उत्पन्न दुःख है अतः जिस किसी में यह अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है, सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है। इसी से सन्तोष सात्विक जीवन का एक अंग बतलाया गया है। भक्तवर तुलसीदास जी सन्तोष-वृत्ति की वाञ्छा इस प्रकार करते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?

यथालाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।

पर जिस स्थिति से कोई कष्ट या कठिनता हो उससे असन्तुष्ट रहना गृहस्थ का धर्म है क्योंकि ऐसे असन्तोष से जिस प्रयत्न की प्रेरणा होती है वह एक अच्छे फल के निमित्त होता है। ऐसे असन्तोष का अभाव आलस्य-सूचक होता है। पर प्राप्ति की जो इच्छा व्यसन के रूप में होती है उसका निरसन ही ठीक है।

मन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अन्तःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुण्ठित हो जाती हैं। जो लोभ मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण वा सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा ? जो अनाथ विधवा का सर्वस्व-हरण करने के लिए कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुत्कार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी में रुपया गाड़ कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का कष्ट-क्रन्दन सुन कर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अंतःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या ? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुन्दर से सुन्दर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जायँ ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं जब कि उसके लिए उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं होती, तब जिस बात से पास का कुछ जाता है, वह बात उन्हें कैसी लगती होगी, यह यों ही समझा जा

सकता है। जिस बात में कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं चाहे वह कष्ट-निवारण हो या सुखप्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी संपूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !!

पक्के लोभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिए कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया; वह लक्ष्यभ्रष्ट हो गया।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभ ही कही जा सकती है, पर साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं, इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान या रूपवती को देख उस पर "लुभा जाना" बराबर कहा जाता है। अंगरेज़ी के प्रेम-वाचक शब्द 'लव' (Love), सैक्सन 'लुफु' (Lufu) और लैटिन के 'लुबेट' (Lubet) का सम्बन्ध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ' धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता

है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है; जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अतः किसी व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल बाह्य सम्पर्क रखकर ही तुष्ट नहीं हो सकता; उसके हृदय का सम्पर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक सम्बन्ध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलम्बन, इन दो पक्षों में भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अन्तर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ी चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिन्ता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाय कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय। उसे इस बात की चिन्ता रहती है कि प्रिय को भी उससे प्रेम हो गया है, कम से कम उसके प्रेम का पता लग गया है या नहीं—

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वै है॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं निति मेरे लिए, इतनो तो विसेष पै जानति ह्वै है॥

इस प्रवृत्ति के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है। लोभी या प्रेमी सान्निध्य या सम्पर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या सम्पर्क के लिए तो वस्तु की

ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या सम्पर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह उसमें भी सान्निध्य या सम्पर्क की इच्छा उत्पन्न न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अन्तर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलने के लिए न्योता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरान्त प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है "अच्छा लगना"। वस्तु के सम्बन्ध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफ़ी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि जो वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ। वह अपना सारा अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है। यह बराबर देखने में आता है कि जब कभी किसी नवयुवक का चित्त किसी युवती की ओर आकर्षित होता है तब ऐसे स्थानों पर जाते समय जहाँ उसके दिखाई पड़ने की सम्भावना होती है, उसका ध्यान कपड़े-लत्ते की सफ़ाई और सजावट की ओर कुछ अधिक हो जाता है। सामने होने पर बात-चीत और चेष्टा में भी एक ख़ास ढब देखा जाता है। अवसर पड़ने पर चित्त की कोमलता, सुशीलता, वीरता, निपुणता इत्यादि का भी प्रदर्शन होता है। प्रेमी को जिस घड़ी यह पता चलता है कि प्रिय का चित्त भी उसकी ओर थोड़ा-बहुत खिंचा है उसी घड़ी से वह लोभ की ऊपरी सतह से और गहरे में जाकर प्रेम के आनन्द-लोक में मग्न हो जाता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीवन में एक

नया रस उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ जाती है। आनन्द की सम्भावना भी बहुत बढ़ जाती है और दुःख की भी। प्रिय के हृदय का आनन्द प्रेमी के हृदय का आनन्द हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनन्द का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनन्द का अनुभव करने लगता है; दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिए आनन्द बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुःख देने लगती हैं। होते-होते यहाँ तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनन्द से अलग आनन्द रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनन्द में ही वह अपना आनन्द ढूँढ़ा करता है। दो हृदयों का यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। प्रेम का यह एक रहस्यपूर्ण महत्व है।

प्रेम का प्रभाव एकान्त भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकान्त प्रभाव उस अन्तर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे-से संसार में बन्द कर देता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना, सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्ट-सहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम-मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में; लोक के बीच कर्त्तव्य के रूप में नहीं। सारांश यह कि इस प्रकार के प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन से विच्छिन्न होता है। उसमें प्रिय पक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य पक्षों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। फ़ारसी के साहित्य में ऐसे ही ऐकान्तिक और लोक-बाह्य प्रेम की प्रधानता है। भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को प्रायः यही स्वरूप दिया गया है। भक्ति-मार्ग में प्रायः यही ऐकान्तिक और अनन्य प्रेम लिया गया है क्योंकि यह एक ऐसा राग है कि जिस के प्रभाव से

विराग की साधना आप से आप बिना किसी मानसिक प्रयत्न के हो जाती है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप यह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आस-पास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौन्दर्य जगत् के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अन्तःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौन्दर्य-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में। मनुष्य का प्रेम-सौन्दर्य—वस्तु-सौन्दर्य, कर्म-सौन्दर्य, वाक्-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य सब देखना और दिखाना चाहता है। वीरता के पुराने ज़माने में युवक योद्धा यह समझ कर कि गढ़ी की ऊँची अट्टालिका के गवाक्षों से हमारी प्रेयसी झांकती होगी, किस सौन्दर्य-भावना-पूर्ण उमङ्ग के साथ रणक्षेत्र में उतरता था। कर्म का सबसे अधिक विकट क्षेत्र युद्ध है। इससे आर्य्य जाति के वीरकाल के काव्यों के श्रृङ्गार और वीर का अत्यन्त मनोहर समन्वय पाया जाता है। जिस प्रकार योरपीय साहित्य में वीरधर्म का एक युग रहा है उसी प्रकार हमारे हिन्दी-साहित्य में भी। उस काल की कविता का प्रसंग अधिकतर 'युद्ध और प्रेम' (Love and war) ही पाया जाता है।

भारतीय प्रबन्ध काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदि-कवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्म-क्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग में माधुर्य्य फैलाने वाला है;

उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भराने वाला नहीं। उसके प्रभाव से वनचर्य्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कटीले पथ प्रसूनमय हो गए हैं; सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कन्धे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्र कोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं। खरदूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती बढ़ी आ रही है। राम कुछ मुस्करा कर एक बार प्रेम भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं; फिर वीर दर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेर कर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य्य रहा होगा। सीता-हरण होने पर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलाने वाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतारने वाला है।

उस ऐकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बन्द कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज़ मरीज़ को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटा कर उसमें सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर दिखाई दे उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं। भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जब कि प्रिय के सम्बन्ध से न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रिय के सम्बन्ध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्ध भक्तिमार्ग में जगत् से विरक्ति का स्थान हम ढूँढते हैं और नहीं पाते हैं। भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ

जाता है। जो भक्त इस जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान् के लोकपालक और लोकरंजन स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलाएगा कि चारों ओर से खींच लेगा? हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर जाने वाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।

जब कोई रामभक्त पुत्र-कलत्र, भाई-बन्धु का राग छोड़ने, कर्म-पथ से मुँह मोड़ने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही रामभक्त-सा लगता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चींटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझसे क्या प्रयोजन?' कहकर विरक्त या उदासीन रहेगा, क्रोध, करुणा, स्नेह, आनन्द आदि को पास तक न फटकने देगा, उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ, भक्त कदापि न कह सकूँगा। राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। लोकमंगल की प्रेरणा द्वारा भक्त अपने 'नेह का नाता' संसार से निभाता हुआ राम से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस सम्बन्ध-निर्वाह में जो बाधक हों, भक्त के लिए वे अवश्य त्याज्य हैं; चाहे वे सुहृद् और स्नेही परिजन ही क्यों न हों; क्योंकि—

नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

ऐकान्तिक और लोकबद्ध, प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेमी और प्रिय, इन दो पक्षों की पारस्परिक स्थिति

पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्रेम कहीं तो दोनों पक्षों में युगपद् होता है अर्थात् आरम्भ ही से सम रहता है, कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है और कहीं एक ही में उत्पन्न होकर रह जाता है, दूसरे में होता ही नहीं अर्थात् विषम ही रह जाता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रेमी उसे अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर होता है। यह आतुरता तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिए होती है जिसके बिना प्रेम सफल नहीं जान पड़ता। तुल्यानुराग के प्रयत्न की भी एक बँधी हुई पद्धति दिखाई पड़ती है।

दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं—करुणा और प्रेम। इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता। पर दया का पात्र होने के लिये केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है। दया का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। दया मनुष्य-मात्र का धर्म है और प्राणिमात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुःखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलम्बन करता है जिनसे प्रिय के हृदय में उसके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अंतस् में प्रेम की भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे-धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिय के कानों तक बराबर पहुँचाता रहता है।

यह न समझना चाहिये कि प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने की यह चाह तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के पूर्व तक ही रहती है। यह प्रेम-मार्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रेमी के हृदय में सदा बनी रहती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की

ज़रूरत होती है उसी प्रकार बराबर बनाए रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिये प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। दया या करुणा का भाव जाग्रत रखने की इस प्रवृत्ति का प्रकर्ष फ़ारसी या उर्दू की शायरी में विशेष रूप में पाया जाता है। वहाँ प्रेमी जीते जी यार के कूचे में अपनी क़ब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ़ करते हैं और बार-बार मर कर अपना हाल सुनाया करते हैं। मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति के एक-आध शब्द मुँह से निकल आते हैं। प्रिय के मुख से निकले हुए सहानुभूति के शब्द-सा प्रिय संसार में और कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था', प्रिय के मुँह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की सम्भावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनन्द से किया करते हैं। जबकि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता; प्राण के बदले में भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की एक बूँद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिये तैयार हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही प्रेम को पूर्ण तुष्टि और सफलता प्राप्त होती है। हमारे साहित्य के पुराने आचार्यों ने एक पक्ष को प्रीति को रसाभास के अन्तर्गत लिया है। जब तक तुल्यानुराग की सम्भावना रहती है या प्रिय-पक्ष की विरक्ति और उदासीनता का प्रमाण सामने नहीं रहता तब तक रस में त्रुटि नहीं मानी जाती। प्रेमी का तिरस्कार करता हुआ प्रिय जब अन्य में अनुरक्त पाया जाता है तब उसकी विरक्ति का पक्का प्रमाण सामने आ जाता है। ऐसी दशा में भी बने रहने वाले प्रेम की चर्चा काव्यों में मिलती है। फ़ारसी और उर्दू की शायरी में तो आशिकों की अक्सर यह शिकायत रहती है "माशूक़ ग़ैरों से मिला करता है और

हमारी ओर ताकता तक नहीं।" कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की शिकायत भी कुछ-कुछ इसी ढङ्ग की हो गई थी।

रस और रसाभास की बात छोड़ हमें प्रेम के उस स्वरूप पर विचार करना है जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है और प्रिय उसकी ओर ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार ही करता जाता है। क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं है? यह नहीं कहा जा सकता। प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो इसमें उसका क्या दोष? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका वैसा उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्म-तुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले से ही नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है, केवल यही चाहता है—प्रिय से नहीं, ईश्वर से—कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे। इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं—

> जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेहु कोटि सिर भार।
> यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार'॥

ऐसे प्रेमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता। प्रिय का सुख-सन्तोष ही उसका सुख-सन्तोष हो जाता है। बङ्किम बाबू की 'दुर्गेशनन्दिनी' में आयशा का जगतसिंह पर अनुराग इसी उच्चभूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगतसिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है

उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अन्त में तिलोत्तमा के साथ जगतसिंह का विवाह कराकर पूर्ण शांति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानस लोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्चभूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या सम्पर्क की कामना के त्याग द्वारा ही वह प्रेम-रक्षा और शान्ति-लाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्त्तन (Reaction) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी; ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिए रास्ता खुल जायगा। यहाँ तक कि समय पर क्रोध का दौरा होगा और प्रेम का स्थान बैर ले लेगा।

प्रेम-काव्यों में प्रायः रूप-लोभ ही प्रेम का प्रवर्त्तक दिखाया जाता है। किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर कोई मुग्ध होता है और उसका प्रेमी बन जाता है। पर प्रेम का एक और कारण, जो रूप गुण से सर्वथा स्वतन्त्र और उनकी अपेक्षा अधिक निश्चित प्रभाव वाला होता है, साहचर्य है। देश-प्रेम के अन्तर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। किसी अरब को उसकी रेगिस्तानी जन्मभूमि से ले जाकर काश्मीर के हरे-भरे मैदान में रख दें तो भी वह अपने देश के वियोग में रोया करेगा। इसी प्रकार जिन मनुष्यों के बीच कोई बचपन से या बहुत दिनों से रहता आता है, उनके प्रति उसके हृदय में एक स्थायी प्रेम हो जाता है। इस साहचर्यगत प्रेम में विशेषता यह होती है कि इसका वेग साहचर्यकाल में तो कुछ अवसरों पर ही रह-रहकर व्यक्त होता है, पर विच्छेदकाल में बराबर उमड़ा रहता है। भाई-बहिन, पिता-पुत्र, इष्ट-मित्र से लेकर चिर-परिचित पशु-पक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी ढब का होता है। रूपगुण की भावना से उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्य-जन्य स्वरूप प्राप्त करता है। अतः प्रेम के इस स्वरूप का महत्त्व बराबर ध्यान में रहना चाहिए।

लोभ या प्रीति की सबसे बड़ी विलक्षणता का उल्लेख करके अब

हम यह निबन्ध समाप्त करते हैं। यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँस कर भी की जाती है और रोकर भी; जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्षपुलक और उछलकूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनन्दात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। साहित्य के आचार्यों ने इसीसे शृङ्गार के दो पक्ष कर दिए हैं - संयोगपक्ष और वियोगपक्ष। कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलम्बन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिल्कुल दूसरे प्रकार की। कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का सा स्थायित्व प्राप्त करते हैं—जैसे क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या वैर का रूप धारण करता है और जुगुप्सा, घृणा या विरक्ति का—पर यह विशेषता और किसी में नहीं पाई जाती। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृङ्गार को 'रसराज' कहा है।

श्री गुलाबराय

श्री बाबू गुलाबराय का जन्म माघ शुक्ला चतुर्थी सम्वत् १९४४ में उत्तरप्रदेश के इटावा नामक नगर में हुआ। आपके पिता जी सरकारी कर्मचारी थे। उनके इटावा से मैनपुरी चले आने पर आपका बाल्यकाल मैनपुरी में ही व्यतीत हुआ। आपकी माता जी धार्मिक वृत्ति की स्त्री थीं; सूर और कबीर के पदों से उन्हें प्रेम था; अतः आप पर भी उस धार्मिक वातावरण का प्रभाव पड़ा। आपकी शिक्षा का प्रारम्भ से ही अच्छा प्रबन्ध रहा। सन् १९१३ में आपने दर्शन-शास्त्र विषय लेकर एम० ए० पास किया। एम० ए० करते ही हिज़-हाइनेस महाराजा छतरपुर के पहले तो दार्शनिक दरबारी के रूप में और बाद में प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में नियुक्त हो गये। कुछ दिन दीवान (अमात्य) का भी काम किया। महाराजा साहब का देहान्त होने पर आप आगरा चले आये और सेंट जॉन्स कॉलेज में आंशिक रूप से काम करने वाले अध्यापक हो गये। सम्प्रति साहित्य-सेवा ही आपका ध्येय है और वही आपकी जीविका का साधन भी।

बाबू जी की रुचि प्रारम्भ में दर्शन-शास्त्र की ओर थी। आपने दर्शन-शास्त्र पर हिन्दी में कई ग्रन्थ भी लिखे। बाद में साहित्य की ओर आपका गहरा झुकाव हुआ और सब से पहले 'नवरस' नाम का उत्तम ग्रन्थ-रत्न हिन्दी को भेंट किया, तदनन्तर आपकी लेखनी साहित्यालोचन की ओर प्रवृत्त हुई और अब तक एक दर्जन से ऊपर ग्रन्थ आप लिख चुके हैं।

हिन्दी-साहित्य को बाबू जी की प्रमुख देन आलोचना और निबन्ध हैं। आलोचनात्मक विषयों को निबन्धों के कलेवर में आपने बड़ी ही सुन्दर

शैली से प्रस्तुत किया है। 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' आपके काव्य-शास्त्र-विषयक दो सुन्दर ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर भी आपने अनेक निबन्ध लिखे हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'साहित्य-सन्देश' के सम्पादक के रूप में भी आपकी हिन्दी-सेवा स्तुत्य है।

निबन्ध-क्षेत्र में आपकी वैयक्तिक शैली और मौलिकता का परिचय देने वाली तीन पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—'मेरी असफलताएँ' 'फिर निराश क्यों' और 'प्रबन्ध-प्रभाकर'। साहित्यिक विषयों से इतर विषयों पर लिखते समय आपकी शैली में मौलिकता और व्यक्तित्व की सुन्दर व्यंजना होती है। छोटे-छोटे वाक्यों में अभिव्यक्ति को समेट कर रखने की सतर्कता इनका प्रधान गुण है। इस प्रकार के निबन्धों में भाषा की सरलता और सुबोधता पर लेखक का बल रहता है। अपने भाव को सुस्पष्ट करने के लिए अन्य ग्रन्थों के छोटे-छोटे उद्धरण प्रस्तुत करने की ओर आपका ध्यान रहता है। हास्य, व्यंग्य का पुट देकर आप बात को इतनी सहज शैली से प्रस्तुत करते हैं कि पाठक की चित्तवृत्ति बरबस चमत्कृत हो उठती है। मुहावरे और लोकोक्तियों की भीड़ न होने पर भी यथावसर उनका समीचीन प्रयोग देखा जा सकता है। यथार्थ में बाबूजी का निबन्धकार का रूप उन्हीं निबन्धों में प्रस्फुटित हुआ है जो उन्होंने जगत् और जीवन के सम्बन्ध में लिखे हैं। साहित्यिक विषयों पर लिखे हुए उनके निबन्धों में एकत्र की हुई सामग्री का ही प्राचुर्य होता है उनकी उपयोगिता में सन्देह न होने पर भी लेखक का व्यक्तित्व उनमें कम रहता है।

द्विवेदी युग के अन्तिम चरण से आज तक निरन्तर लेखनी का आश्रय लेकर चलने वाले साहित्य-साधकों में बाबू जी का प्रमुख स्थान है। हिन्दी-निबन्ध-साहित्य की बाबू जी ने अपनी प्रतिभा से जो श्रीवृद्धि की है वह सर्वथा सराहनीय है।

प्रस्तुत लेख 'नर से नारायण' आपकी एक सफल और सुन्दर रचना

है। हास्य-रस का पुट देकर लेखक ने अतिवृष्टि से उत्पन्न अपने मकान की स्थिति का वर्णन बड़ी ही सजीव शैली से किया है। मकान के जल-मग्न हो जाने पर लेखक को कष्ट सहना पड़ा किन्तु उस दारुण कष्ट-कथा को लेखक ने करुण-रस में व्यक्त न करके मोहक हास्य में परिणत कर दिया है। म्यूनिसिपैलिटी के प्रबन्ध पर मार्मिक व्यंग्य है। जल संघात का वर्णन प्रसाद जी की 'कामायनी' की कथा के प्रारम्भिक अंशों को उद्धृत करके बड़ी ही साहित्यिक शैली से किया गया है। जल के देवता इन्द्र और वरुण की कृपा और कोप को चित्रित करने में भी लेखक ने अपूर्व कौशल दिखाया है। हिन्दी में इस प्रकार के निबन्ध बहुत कम लिखे गये हैं। 'मेरी असफलताएँ' पुस्तक में बाबू जी के व्यक्तित्व की छाप से चमत्कृत होने वाले कई सुन्दर निबन्ध हैं।

———

: ६ :

नर से नारायण

[गुलाबराय]

मेरा मकान बाढ़ में—

ताज़ा ब ताज़ा, नौ ब नौ, गर्मागर्म प्रतिक्षण की टटकी खबर सुनने के अभ्यस्त नारद मुनि के अवतार-स्वरूप समाचार-पत्रों के समुत्सुक पाठकों को जब सात समुन्दर पार विलायत की भी एक छाक की पुरानी ख़बरें बासी और बे-मज़ा लगती हैं तब उनको आगरे की कई महीने की पुरानी बात सुनाना उनकी सुरुचि का अपमान करना ही नहीं है वरन् उनको 'ब्लैक होल' की यातना देना होगा। इस बात को भली प्रकार जानते हुए भी मैं आगरे में आई हुई सितम्बर १९३९ की बाढ़ का हाल सुनाने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

उस समय मैं स्वयं बाढ़-पीड़ित हो करुणा का पात्र बना हुआ था। मेरे होश ठिकाने न थे। कहता भी तो क्या? कुएँ में गिरा हुआ मनुष्य जब तक उससे बाहर न निकल आये तब तक अपने गिरने का हाल कैसे बताये? अब मेरा मकान कुछ-कुछ पूर्व स्थिति पर आ चला था। ईश्वर की परम कृपा और पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से सर के ऊपर की छत तो बची हुई थी लेकिन फ़र्श बैठ जाने से मेरे पैरों तले की ज़मीन खिसक गई थी। बिना त्याग और तपस्या के घर ही वन बन गया था। कमरों में खाइयां और पहाड़ दिखाई देते थे, और कुछ दिन के लिये सरिता तो नहीं पर सरोवर अवश्य बन गया था। गिट्टी के नुकीले टुकड़े जो भारत माता के लाड़ले सपूतों की भाँति एक दूसरे से मुँह मोड़े

पड़े हुये थे, मेरे कोमल पदों में तो क्या कठोर पदों में भी आघात पहुँचाने के लिये पर्याप्त थे। उनको देख कर मुझे एक फ्रांसीसी रहस्यवादी महिला की जिसका नाम मेडन ग्वेन था याद आ जाती थी। उसके बारे में कहा जाता है कि वह अपने जूतों में इसलिये कंकड़ डाल लेती थी कि उसके शरीर को कष्ट पहुँचता रहे, वह विलासिता में न पड़े और ईश्वर को याद करती रहे। मैं भी खुदा ताला का हज़ार-हज़ार शुक्र बजा लाया कि उसने मुझे अपनी याद करने का सामान मुहैया कर दिया था।

वरुण महाराज की कृपा—

बाढ़ की बात अभी तक न सुनाने का एक कारण और भी था। वह यह कि ख़बर को सरस कहानी का रूप देने के लिये कुछ समय की ज़रूरत होती है। पाल में रक्खे हुए आमों में ही रस आता है। बाढ़ चली गई लेकिन उसका प्रभाव अभी तक यत्र-तत्र सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इसलिये बात नितान्त पुरानी भी नहीं हुई है। जगबीती न सुना कर पहले आपबीती ही सुनाऊँगा। 'अव्वल ख़ेश बादहू दरवेश'। ख़ैर अब सुनिये। सितम्बर के महीने में, आगरे में पानी की त्राहि-त्राहि मची थी। मैंने भी वैश्य धर्म के पालने के लिये पास के एक खेत में चरी बो रखी थी। ज्वार की पत्तियाँ ऐंठ-ऐंठ कर बत्तियां बन गई थीं। मैं भी जीव-दया-प्रचारिणी सभा का भूतपूर्व मेम्बर होने के नाते नौनिहाल किन्तु अब तन-मन मुर्झाये हुए नौउम्र पौदों की बेकसी पर और अपनी गाढ़ी कमाई के बीस रुपयों की बरबादी पर दो-चार आँसू बहा देता। लेकिन उनसे होता क्या? यदि वे रीतिकालीन काव्यों की विरहिणी गोपिकाओं के समान भी होते जिनसे कि समुद्र का पानी खारी हो गया था तो भी वे खारी होने के कारण सिंचाई का काम न देते। ख़ैर फिर भी ग़रीब किसानों की सार को भस्म करने वाली आहों के बादल बनते दिखाई दिये, "दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के।" ऐसा मालूम होने लगा कि अब दीनदयाल के कान में भनक पड़ी और

शायद यह न कहना पड़े 'का वर्षा जब कृषी सुखानी' 'धूम धूम्रारे कारे कजारे' श्याम घनों को देखकर मेरा मन-मयूर नृत्य करने लगा। बादलों की उपयोगिता की अपेक्षा मैं उनके सौन्दर्य से अधिक प्रभावित होता हूँ। बाहर घूमता फिरा; नन्हीं-नन्हीं बूँदों के सुखद शीतल स्पर्श से पुलकित हुआ। आनन्द और कर्तव्य तथा श्रेय-प्रेय का समन्वय करने कालेज भी गया। यद्यपि मेरी सदा छुट्टी सी रहती है तो भी कालेज बन्द हो जाने से बालकपन के संस्कारों-वश प्रसन्नता का अनुभव किया। धुली-धुलाई सड़क की स्निग्ध, चमकीली छटा तथा चारों ओर के नयनाभिराम छायावादी आर्द्र सौन्दर्य का आस्वादन करता हुआ हँसता-खेलता, खेती की ओर हर्षपूर्ण दृष्टिपात करता हुआ उमंग भरे हृदय के साथ घर लौटा।

घर या तालाब—

मेंह के कारण शरीर में जो स्फूर्ति आई थी उससे प्रेरित हो लिखने बैठ गया। कभी-कभी बाहर जाकर मेघाच्छादित गगन-मंडल की शोभा निरख लेता था। किन्तु मैं यह नहीं जानता था कि सौन्दर्य में इतना विष भरा है। कभी-कभी पीछे की ओर बगीचे में जाकर शेफाली की उदार सुमन-वर्षा का तथा धोये-धोये पत्तों वाली हरित ललित यौवन-भरी लहलहाती लौनी लताओं के सौन्दर्य-मधु को अपने सतृष्ण नेत्रों द्वारा पान कर लेता था।

पीछे की तरफ प्रायः एक फुट पानी भर गया। मेरी सौन्दर्यो-पासना अविचलित रही क्योंकि ऐसा कई बार हो चुका था। बच्चे भी घर की गंगाजी में काग़ज़ की नावें तैरा कर खुश हो रहे थे। मैं अपनी सूखी खेती के पुनर्जीवन प्राप्त करने के स्वप्न में मग्न था। सायं-काल तक सारा दृश्य रस के दोनों अर्थों में रसमय था। वह जलमय था और आनन्दमय भी। यद्यपि पानी के साथ थोड़ी-थोड़ी आशंका बढ़ रही थी तथापि मामला रस से विरस नहीं हुआ था। 'सिमिट सिमिट जल भरहिं तड़ागा।' जिस प्रकार सज्जन के पास सद्‌गुण आते

हैं अथवा आजकल के युग में बेकारों की अर्ज़ियों से दफ्तर भर जाते हैं वैसे ही चारों ओर के पानी से मेरे पास की ज़मीन तालाब बनी हुई थी। घर में इस बात का प्रश्न अवश्य उठा कि कहीं तालाब अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके अपने विस्तार को मेरे घर तक न ले जाय, किन्तु वह शंका असंभव मान कर टाल दी गई। उस समय कुछ भी नहीं किया जा सकता था। मेरे सैलरों के रोशनदान तीन फुट की ऊँचाई पर थे। यह सब ऊहापोह हो ही रही थी कि पास की ज़मीन का पानी मर्यादा के बाहर होकर मेरी ज़मीन में आ गया। यह क्यों न आता? मेरे मकान में बाउन्ड्री वाल भी नहीं थी। मैं देश और राज्य की सीमाओं को जब क्षुद्र समझता था तब घर के चारों ओर क्यों सीमा बांधता? मैं तो अनन्त का उपासक ठहरा। मैं रवीन्द्र बाबू के साथ स्वर में स्वर मिला कर तो नहीं, (मेरा कर्कश है उनका कोमल था। मुझे तानसेन की क़ब्र की इमली की पत्तियां खाने पर भी गाना नहीं आया) परन्तु उनके भाव से तादात्म्य कर कहा करता था "जेथा गृहेर प्राचीर आपन प्रांगण तले दिवाशर्व्वरी। वसुधारे राखे नाइ खण्ड क्षुद्र करि।" फिर मैं अपने मकान का दूसरों के मकान से पार्थक्य क्यों करता?

अन्धेन तमसावृता—

थोड़ी ही देर में पानी रोशनदान के मुँह तक पहुँच गया और उनमें होकर जल प्रपात होने लगा। नाइग्रा फाल देखा तो नहीं है किन्तु उसी का सा कुछ-कुछ दृश्य उपस्थित हो गया।

मैं अपने तहखाने के रोशनदानों पर गर्व किया करता था कि मैं उनके कारण सायंकाल को भी उनमें बैठकर लिख-पढ़ सकता था। जो महाशय मेरा मकान देखने की कृपा करते उनसे मैं अपने तहखानों के आरपार वायु-संचार की तारीफ बड़ी प्रसन्नता के साथ करता था क्योंकि उससे मुझे अपनी टूटी-फूटी शान और स्वास्थ्य-विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान के प्रदर्शन का मौका मिल जाता। क्रॉस वेन्टीलेशन की शान ही वबाले जान बन गई। सौन्दर्य-प्रिय होते हुए तहखानों के झरनों के पुष्ट मांसल

सौन्दर्य का आस्वादन न कर सका। यदि घर फूँक तमाशा भी देखना चाहता तो भी नामुमकिन हो गया था। एक साथ बिजली ठप हो गई। घर फूँक तमाशा देखने वाले को कम से कम प्रकाश की तो ज़रूरत नहीं होती। यहाँ तो पूर्व-जन्म के पापों के उदय होने के कारण 'असूर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृता' का दृश्य उपस्थित हो गया। घनी कालिमा बिना स्तर-स्तर जमे ही पीन होने लगी। सूचीभेद्य अन्धकार का साम्राज्य हो गया। हाथों हाथ नहीं सूझता था। दायां हाथ बायें हाथ की बात नहीं जान सकता था। सर से सर टकराने की नौबत आ गई थी। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की पुकार होने लगी।

मेरे घर में कोई सिगरेट बीड़ी नहीं पीता इसलिए उसमें कभी-कभी दियासलाई का भी मिलना ऐसा दुश्वार हो जाता है जैसे कि आज-कल के बाबू लोगों के घर में गंगा-जल, चन्दन और माला का अथवा किसी राय बहादुर के घर में गांधी टोपी का। उस समय दियासलाई का मिलना ज्योति-स्वरूप एवं ज्योतिस्त्रोत परमात्मा के मिलने के बराबर हो गया। लालटेन स्नेह-शून्य निकली। एक टूटी-फूटी टार्च थी किन्तु उसके ढूँढने के लिये भी टार्च की ज़रूरत पड़ती। सन्दल घिसने की भांति वह कम सरदर्द न था। उस समय के अन्धकार में मेरी अव्याव-हारिकता पर विद्युत्-प्रकाश पड़ रहा था और सैलरों के निर्झर मेरी महान् मूर्खता की सनाद घोषणा कर रहे थे। खैर, जैसे-तैसे दीपक का आयोजन हुआ। उसको झंझावात का सामना करना पड़ा। हथेली और अंचल से उसकी कहाँ तक रक्षा होती? मेरे चाकरदेव पड़ौस से लालटेन लाये। इतने में मेरा चालीस फुट लम्बा सैलर सेन्ट जॉन्स कालेज के स्विमिंग बाथ की होड़ करने लगा। हम लोग शान्ति-पूर्वक सबके साथ भीतर घर में बैठ गए। सोचा कि चलो यह भी तजुर्बा हो गया। विश्वकर्मा के साक्षात् अवतार श्रीमान् भोंदाराम जी ठेकेदार की बात कि 'हुज़ूर दरिया में घर बनाते हैं' जिजमान के बालों की भांति सामने आ गई। प्रलयपयोधि उमड़ रहे थे। 'प्रालेय हलाहल नीर' बरसने

लगा। मेरे दरिया में तूफ़ान आ गया।

नूह की किश्ती की खोज—

मैं अपने हाल को नूह की किश्ती या मनु की नौका समझ रहा था। उस समय तक भी, अभाव की चपल बालिका, चिन्ता की प्रथम रेखा मेरे ललाट प्रांगण में खेलती हुई नहीं दिखाई दी, किन्तु थोड़ी ही देर में पास के कमरे से 'चलियो' की आवाज आई। मेरे बाग़ के माली महोदय श्री मंगलदेव जी जो मेरे मंगल-विधान में सदा दत्तचित्त रहते थे चिल्ला उठे 'बाबू जी ऊपर ही रहना।' मैं समझा कहीं से साँप आ गया। खैर यह भी सही। मेरे दूसरे चाकरदेव श्री रणवीर जी ने बड़ी वीरतापूर्वक कहा कि कुछ नहीं ज़मीन बैठ गई है। बड़े आदमियों की भांति उसकी बात भी आधी सच थी। ज़मीन बैठी थी और फ़र्श के पत्थर आपस में सर से सर मिला खड़े हो गये थे, मानो वे सचेत होकर मेरे परित्राण का उपाय सोच रहे हों। उसी समय गुर्विणी महिषी (भैंस) की, जिसको कलियुग के व्यास जी ने अपनी कविता से अमर ही कर दिया है, समस्या मेरे सामने आई। उसका छप्पर भी तालाब बन चुका था। उस पर एक त्रिपाल डालकर उसे दरवाज़े पर खड़ा किया। बहुत कोशिश करने पर भी उसने बरामदे में पैर न रखा। शायद वह जानती थी कि उसका भी फ़र्श धसकेगा।

मेरे पड़ौसी सेन्ट जॉन्स कालेज के सेक्रेटरी ए० एन० बनर्जी साहब अपनी व्यवहार-कुशलता की दिव्य दृष्टि से मेरा भविष्य देख चुके थे। वे शाम को ही कह गये थे कि यदि कोई तकलीफ हो तो उनका मकान मेरे 'डिसपोज़ल' पर है। उस समय तो मैंने उनका सहानुभूति-पूर्ण निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया था किन्तु जब मेरे घर के सामने भी पानी बहने लगा और मेरा मकान प्रायद्वीप से द्वीप बन गया, बरान्डे और शयनागार का भी फ़र्श बैठ गया और उनकी टाइलें मेरे बैठते हुए दिल की समता करने लगीं तब जल्दी से मैंने बनर्जी साहब का निमन्त्रण स्वीकार किया। मकान में ताला लगा कर उनका द्वार खटखटाया।

उन्होंने नौकर तथा मेरी भैंस को अपने यहाँ आश्रय दिया। चिन्ताग्रस्त मनुष्य को जितनी निद्रा आ सकती है उतनी ही नहीं, उससे कुछ अधिक निद्रा मुझे आई क्योंकि कोठी के लिए तो मैंने कड़ा जी कर मन में सोच लिया था 'इदन्न मम इदं वरुणाय', निद्रा भंग करने की यदि कोई बात थी तो पड़ौस के काछी कुम्हार सज्जनों और सज्जनाओं की करुण पुकार थी। मेरी भैंस तो सुरक्षित थी किन्तु गरीब लोगों के जानवर चिल्ला रहे थे। बहुत कोशिश करने पर भी मैं उनकी कुछ सहायता न कर सका, अन्धकार और जल के कारण "समुझ परहिं नहिं पन्थ" की बात हो रही थी।

भीगे नयनों के सामने

सुबह उठकर जलप्लावन का व्यापक एवं भयंकर दृश्य देखा। मनु की भांति 'भीगे नयनों से' तो नहीं, कुछ करुण हास्य के साथ 'मैं देख रहा था प्रलय प्रवाह', और मुझे भी एक ही तत्व की प्रधानता 'कहो उसे जड़ या चेतन' दिखाई पड़ती थी। मैं स्वयं अपने को कामायनी का मनु ही नहीं वरन् स्वयं नारायण समझने लगा। 'नारासु अयनं यस्य स नारायणः' मेरा घर भी पानी में था फिर मेरे नारायण होने में क्या कसर थी? और इस प्रकार बिना करनी के ही मैं नर से नारायण बना।

प्रातःकाल ही आगरे के महेन्द्र जी अपने स्वर्गस्थ नामराशि की काली करतूतों की आलोचना करने निकल पड़े थे। वे आजानु जल को पार कर मेरे यहाँ पधारे। मैंने अपनी समस्या का भार उनके सुविशाल कन्धों पर रख दिया। उन्होंने 'शुक्लश्यामांग सौभाग्या नगरभाग्य-विधायिनी, उर्वशीस्वरूपा चिरयौवना श्रीमती चुंगीदेवी' के रसिक पति श्री सेठ ताराचन्द जी से आग बुझाने का इंजन, पानी की बाधा शमन करने के लिये, माँगने का वायदा कर लिया। इंजन आया लेकिन अधिक प्रभावशाली और मुझसे कम मुसीबतज़दा लोगों के हाथ पड़ गया। स्वार्थों का संघर्ष था। करता भी तो क्या करता? उनके वर के आगे

पक्की सड़क थी, मेरे घर के आगे वैनिस नगर की सी पानी की सड़क। विधि के विधान से क्या वह चलता?

उस रोज़ सिवाय सहानुभूति के प्राप्त करने के कुछ न कर सका। महाभारत में कथा है कि एक टिटहरी ने चोंच से समुद्र खाली करने का साहस किया था। हमारे पहले दिन के उद्योग तो करीब-करीब वैसे ही रहे। कुम्भज भगवान् अगस्त्य देव की कृपा न हो सकी। उनकी मौसी बाल्टी देवी की जो कुम्भ की सगी छोटी भगिनी हैं गति न थी, क्योंकि पानी फेंका भी जाता तो कहाँ? चारों ओर जल था। दूसरे दिन अगस्त्य ऋषि का यांत्रिक अवतार फ़ायर ब्रिगेड का पम्प तैयार करने में विद्यार्थियों ने, जिनमें अधिकतर आगरा कालेज के थे, भगीरथ प्रयत्न किया। घर में कुल सोलह सिलीपर थे। विद्यार्थीगण पीछे के सिलीपरों को आगे लाकर सड़क बनाते-बनाते उसे मेरे घर ले आये। उस रोज़ की भीषण वर्षा के कारण फ़ायर ब्रिगेड को भी हार माननी पड़ी, जितना पानी निकलता उतना ही रक्त बीज की भाँति और बढ़ आता। बिचारे विद्यार्थियों ने, जिनमें निजी सम्बन्ध के कारण केवल नृपतिसिंह, सत्यदेव पालीवाल, चिरंजीलाल एकाकी, पद्मसिंह शर्मा, तारासिंह धाकरे, प्रमोद चतुर्वेदी का नाम मुझे स्मरण है, कमर कमर पानी में घुसकर बाहर का पानी रोकने के लिए मिट्टी भरे बोरों का बांध बांधा, किन्तु सब निष्फल हुआ। प्रकृति के तत्वों से लड़ना हँसी खेल न था।

टिटहरी प्रयत्न

तीसरे दिन फिर टिटहरी प्रयत्न शुरू हुए। थालियों से पानी उलीचा गया, चौथे दिन परोहे लगे। पांचवें दिन बड़ी सिफ़ारिशों से, चेयरमैन साहब के सामने प्रार्थी की भांति खड़े होकर अर्जपर्दान करने पर इंजन मिला। सैलर का पानी निकला और फिर संधों से आया। फिर बाल्टियों और परोहों की शरण ली गई। बचा-खुचा कुछ पानी धरती माता ने सोखा और कुछ कुएँ ने पिया। इस प्रकार पूरे सप्ताह

बाद जल-बाधा मिटी। शायद ब्रज पर भी सात रोज़ कोप रहा था।

पांचवें रोज़ सेन्ट जान्स कालेज के स्काउटों द्वारा सैलर का सामान निकला। लोगों ने अफवाहें उड़ा रक्खी थीं कि मेरे घर में ८००० रु० का नाज भरा था लेकिन हाँ दो शून्य कम करके ८० रु०का अवश्य होगा। मेरे इटावा-निवासी मित्र श्री सूर्यनारायणजी अग्रवाल मुझे हाथ के कुटे चावल भेज दिया करते हैं। चावल पांच दिन जलमग्न रहने के कारण वेदान्ती बन गए थे। अब वे शीघ्र ही सिद्ध होकर व्यक्तित्वाभिमान छोड़ देते हैं और एकरस अखण्ड मंडलाकार हो जाते हैं। श्री गुरुदेव जी (गुड़) कबीर की नमक की पुतली की भांति रसलीन हो गये थे। मेरे सैलर के चूहे छत से चिपके-चिपके छः दिन तक एकादशी मनाते रहे। बगीचा सब बरबाद हो जाने से अब मुझे माली की भी ज़रूरत नहीं रही है। मेरी कोठी परीक्षा में फेल होते-होते बच गई है। मैं शायद अब झूंठ भी कम बोलूं क्योंकि छत गिरने का अब पहले से अधिक भय हो गया है। मेरी छतें न्यायालयों की छतों से, जहां एक न एक पार्टी रोज़ झूठ बोलती है, कुछ कमजोर हैं। मैं भी ला मकां (ईश्वर) होते-होते बच गया हूँ, 'कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।'

मेरे घर का तो यह हाल था लेकिन मेरे आस-पास भी बहुत खैर न थी। जेल के पास नावें चलने की नौबत आ गई थी। सेन्ट जॉन्स गर्ल्स स्कूल भी जलमग्न हो रहा था। बाढ़ का प्रभाव बड़ी दूर तक था। गांव के गांव जलमग्न हो रहे थे। जानें बहुत तो नहीं गईं पर काफ़ी गईं। चार-पांच दिन बाद जो लोग अपने घर लौट गये थे उनमें से एक परिवार के छः या सात आदमी दब कर मर गये। पहले दिन जो लोग घर से बाहर गये हुए थे उनको घर लौटना मुश्किल हो गया था। कई जगह ज़मीनें बैठ गई थीं। आगरा फोर्ट के पास जो सड़क फट गई थी और उसमें एक पुराना घाट निकल आया था, उसके ऊपर हिन्दू और मुसलमान लोग अपना-अपना अधिकार बतलाते थे। खैर अब वह झगड़े की जड़ दबा दी गई है। दो जगह सड़क टूट जाने के

कारण बिजली के खम्बे भी गिर पड़े थे।

बाढ़पीड़ितों की लोगों ने अन्न वस्त्रादि से खूब सहायता की। सभी शिक्षा-संस्थाओं ने छुट्टी करके बाढ़पीड़ितों को आश्रय दिया। मुझे भी जैन बोर्डिङ्ग में आश्रय मिला था।

अब मैं अपने घर की याद कर हँस सकता हूँ। उन दिनों हास्य रस के भी जलमग्न हो जाने के कारण करुणरस का, जिसके देवता वरुणदेव हैं, प्राधान्य था। करुणरस के उस लौकिक अनुभव की ईश्वर पुनरावृत्ति न कराये।

— — —

श्री सियारामशरण गुप्त

श्री गुप्त जी का जन्म सन् १८९५ में चिरगाँव ज़ि० झाँसी में हुआ। किसी शिक्षा-सस्था में उच्च शिक्षा प्राप्त न करने पर भी भारतीय साहित्य के प्रति शैशव से अभिरुचि होने के कारण आपने संस्कृति, धर्म, दर्शन और जीवन से सम्बन्ध रखने वाले हिन्दी, संस्कृत ग्रन्थों का अच्छा अनुशीलन किया है। हिन्दी और संस्कृत के अतिरिक्त कई प्रान्तीय भाषाओं का भी आपको अच्छा ज्ञान है। अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री मैथिली-शरण गुप्त की साहित्य-साधना का भी आप पर प्रभाव पड़ा है। आप सच्चे अर्थों में मौन साहित्य-साधक हैं जिन्हें न तो ख्याति की आकांक्षा है और न प्रचार की इच्छा। गांधीवाद का गहरा प्रभाव होते हुए भी मानवतावाद के प्रबल पोषक हैं। काव्य के विविध अंग कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध सभी पर आपने लिखा है और यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सभी अंगों में आपकी मौलिकता तथा प्रतिभा की छाप है।

कवि के रूप में विख्यात होने पर भी गुप्त जी की प्रतिभा गद्य लेखक के रूप में अधिक विकसित हुई है। कवि की परख के लिए गद्य को यदि कसौटी माना जाय तो सियारामशरण जी की रचनाओं में उसका अच्छा उदाहरण मिलेगा। आपकी गद्य-शैली के दो रूप हैं। सांस्कृतिक उच्च धरातल के निर्माण के लिए आप तत्सम-प्रधान, विचार-गुम्फित पदावली का प्रयोग करते हैं। तर्क, युक्ति और विवेचन के साथ दार्शनिकता का पुट भी इस कोटि के गद्य में रहता है। उपन्यासों का गद्य इससे सर्वथा भिन्न कोटि का होता है। उसमें भाषा की सुकुमारता तथा सरसता की ओर लेखक का ध्यान रहता है। निबन्धों की शैली इन दोनों का समवेत रूप

प्रस्तुत करती है। आपने अधिकांश निबन्ध आत्मकथात्मक शैली में लिखे हैं। इनमें लेखक के सजग तथा संवेदनशील व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हुई है। इन निबन्धों में कहानी है, घटनाओं का चित्रण है, प्राकृतिक वर्णन है, व्यक्तिगत संस्मरण है और जीवन की मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना करने वाले गद्य-काव्य के मोहक अंश भी हैं।

गुप्त जी के दूसरी कोटि के निबन्ध वे हैं जिनमें गम्भीर विचारों की उहापोह को सुन्दर और सरल ढंग से अङ्कित किया गया है। इस कोटि के निबन्धों में आपकी शैली बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण-परक और भावपूर्ण हो जाती है। उलझे हुए पेचीदा दार्शनिक विचारों का सीधी-सादी स्पष्ट और सुलझी हुई भाषा में प्रकट करना ही गुप्तजी की अपनी विशेषता है। हल्के से व्यंग्य का पुट देकर विषय प्रतिपादन को आकर्षक बनाते हुए भी उसकी गम्भीरता पर प्रहार नहीं होने देते। जीवन में प्रतिदिन हम कुछ ऐसी बातें देखते हैं जिनका अन्तिम समाधान नहीं मिलता और हम व्यर्थ ही वाद-विवाद में उलझ जाते हैं। गुप्त जी ने इस प्रकार के विषयों पर लेख लिखकर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। निबन्धों में शब्द-चित्र खड़ा करने की क्षमता आपको कवि होने के कारण सुलभ है, कहीं-कहीं बड़े ही स्पृहणीय और आकर्षक शब्द-चित्र निबन्धों में दृष्टिगत होते हैं। तार्किक शब्दावली को कटुता और रूक्षता से बचाये रखना भी आपकी कवि-प्रतिभा का पुरस्कार है।

'बहस की बात' एक विचारपूर्ण, तर्क-सम्मत, बौद्धिक प्रश्न से सम्बंध रखने वाला निबन्ध है। इस निबन्ध में लेखक ने यह बताया है कि हम कभी-कभी ऐसे प्रश्नों पर विवाद खड़ा कर लेते हैं जिनका अन्तिम और केवल एक ही उत्तर नहीं होता। पूर्व और पश्चिम दिशा का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति अपने घर के दरवाजे के आधार पर करे तो निश्चय ही वह निर्णय सर्वमान्य नहीं हो सकता। फिर भी हम अपनी-अपनी वाणी का प्रयोग करके अपने मन्तव्य की स्थापना करते ही रहते हैं। तर्क को प्रमाण मान कर हम जो कुछ स्थापित करना चाहते हैं वह भी एकान्त सत्य नहीं

होता क्योंकि तर्क की प्रतिष्ठा भी व्यक्तिगत बुद्धि-विकास पर ही है। केवल वाणी-विलास के लिए ही प्रायः बहस होती हैं और उनसे निर्णय पर पहुँचना एक हास्यास्पद विडम्बना ही है। इसी तथ्य को लेखक ने व्यक्त किया है।

———

: ७ :

बहस की बात

(सियारामशरण गुप्त)

बहुत गम्भीर समस्या थी। एक सज्जन कह रहे थे—यह घर पूर्व दिशा में है। दूसरे सज्जन का कहना था—ऐसा हो नहीं सकता। अपने गले के ज़ोर से उस घर को उठाकर ठेठ पश्चिम में रख देने की इच्छा उनकी थी। एक अंग्रेज़ कवि के पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनों का यह दिक्-विपर्यय किसी एक दूसरे से मिलना ही न चाहता था। अपने मध्य-केन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमा-गरमी और तेज़ी से आगे बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था, परन्तु उनके मत नहीं। वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे। ऐसे विकट प्रसंग में उस घर का प्राण-संकट टालकर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व है और आपके यहाँ से पश्चिम। अतएव सही हैं तो आप दोनों और गलत हैं तो आप दोनों। परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम में जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व में। चरम परिपाक के बिना ही वह बहस यहीं शान्त हो गई—कम-से-कम ऊपर से तो हो ही गई।

डर मुझे यह है कि अपने पाठक को मैंने नाराज़ कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी शिकायत अवश्य की जायगी। बहस कभी बिना बात-की-बात पर चल पड़ती है, यह मान लिया जायगा; परन्तु क्या ऐसा भी कोई

हो सकता है, जो पूर्व और पश्चिम जैसे स्वयं-प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मारने को तैयार था—इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन में ही सूर्य की यह मशाल जला रक्खी है। पर इसीके साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसीने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रक्खा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनों का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नहीं। देखा जाय तो हममें कदाचित् ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े में ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों में इन्हें हम और कुछ कहते हों। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यों न हो—इसके विग्रह की प्राणप्रतिष्ठा उसी में कर दी जाती है। कैसे की जाती है, यह बताने के लिए अनेक आचार्यों ने बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं। इसकी शिक्षा के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाण-पत्र के साथ वे हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राज-दरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने मामले पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश इन सम्मुख-विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये-नये आदर्श अथवा साँचे हैं।

न्यायालय ही नहीं, हमारा यह महाभारत रात-दिन सर्वत्र चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है। कोई दूसरा न हो तो अकेले अपने आप भी हम यह कसरत कर सकते हैं; परन्तु रूखी रोटी की तरह अकेले-अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार में

अनाहार से अधिक नहीं। कदाचित् इसी कारण काल कोठरी को सजा वर्तमान समय की एक बहुत बड़ी सजा है। तो हाँ, जहाँ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है—"यह बात ऐसी है", दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—"नहीं, यह बात ऐसी हो ही नहीं सकती।" दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्क-संगत है कि प्रसंग को कुछ जाने-समझे बिना हम भी उसे अपना मत दे सकते हैं। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जबकि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कह चुका हो!

यह तर्क या बहस प्रारम्भ हुई नहीं कि एक बड़ा जनसमूह तुरन्त हमारे आस-पास इकट्ठा हो जाता है। किसके पैर में कितनी तेजी है, इसके निर्णय का एकमात्र समय यही है। इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सहन न होगी, इसी से अस्पृश्य समझकर यहीं छोड़ी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसंग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ नहीं बिगड़ता। संसार के अधिकांश युद्धों का उद्गम इसी के भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते हैं। वहाँ आरम्भ में एक कहता है—"ऐसा।" दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—"ऐसा हर्गिज़ नहीं!" बस इसी के बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। संसार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है।

तो हाँ, जब किसी एक को अस्पृश्य कहकर छोड़ दिया गया है, तब किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पड़ेगा, किन्तु बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए ग्राह्य नहीं जान पड़ता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसी को चोट न लग जाय तो भला यह भी कोई बात हुई। सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर-फिर जी उठना है। इक्कीस-इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वही तेज। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यञ्जना के आवरण में कोमल करके इसे वैश्य वर्ण में लाने का यत्न किया है; परन्तु वहाँ

भी इसका जन्मगत जातीय गुण देर तक छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुँह की खानी पड़ी है, इसी से छिपे-छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।

वास्तव में जीभ की महिमा है ऐसी ही। विधाता ने हमें आँख, कान, हाथ, पैर ये सब दो-दो की संख्या में दिये हैं। तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमें एक क्यों दी? नाक भी उसने एक ही दी थी। जान पड़ता है, बाद में उसे इसमें अपनी भूल मालूम हुई इसी से उसके बीचोंबीच उसने एक दीवार खड़ी करके एक को दो में बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही संशोधन का प्रबन्ध कर सकता था; परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यों न माना जाय कि जीभ के एक रखने में उसका कुछ विशेष हेतु था? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय सांप के द्विजिह्व होने की बात कहकर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कहकर भी नहीं कि उस अवस्था में खाद्य पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ के संख्या में दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसी को किसी अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओं में जाकर किसी दूसरे की सहायता के बिना ही अपना काम चला लेता। मनुष्य की एक जीभ कहती—"मीठा"। दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती—"नहीं, कडुवा!" इस प्रकार अपने आपमें ही आनन्द-रस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता का उदय होता, उससे क्या हमारे इस बहु विचित्र संसार के असंख्य

ही टुकड़े न हो जाते ? दूसरों का हित करने के लिए उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ती और न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढ़कर उसकी समालोचना लिखने की। न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व होता, न राजा की एकान्त कालकोठरी का। सचमुच ही यह बहुत बुरा होता। इसी सबके कारण तो हमारा कर्म-मुखरित संसार इतना प्रिय और मधुर है !

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोड़कर भी किसी और को होना चाहिए। यह और कोई ऐसा है, जिसके बिना हमारा जीवन नीरस हो जाता। ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यों न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते ही हैं। मनुष्य में वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। आँख, वह हमसे अधिक गीध में है। कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं। कुत्ते की घ्राण शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते। दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूलकर, उसीकी काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पड़ता है। जो बात कहीं दूसरे में नहीं मिलती, वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसीकी बात सुनते हैं तो स्वभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है। उसका महत्व खण्डित करके अपना महत्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है। इसका काम है, महत्वाकांक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बड़ा कर देना। बैलों में जब यह वृत्ति पैदा होती है तो वह सींग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढंग की बहस नहीं करते। मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके लिए बहुत-सी बातें आसान हैं। सच पूछो तो दूसरे प्राणियों को विधाता का जिह्वा-दान उसके बड़े-बड़े अपव्ययों में से एक है।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता। जीभ की स्तुति जीभ चलाकर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं। इन बातों को

काटकर कुछ कहने वाला कोई दूसरा होता तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वयं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकेगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह असम्भव है कि उसे पश्चिम कहने वाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा, जो मेरे पूर्व को पूर्व ही रहने दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट-छीलकर एक में बाँधी गई भिन्न-भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एकरस हो सकती हैं और हो जाती हैं; पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे में दूसरे का। इसमें अन्तर आना असम्भव है।

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सम्वत् १९६४ में फर्रुखाबाद (उत्तरप्रदेश) के एक सम्पन्न एवं कला-प्रेमी परिवार में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा माता जी की देख-रेख में हुई। बाद में आपने प्रयाग विश्व-विद्यालय से संस्कृत में एम० ए० किया। आजकल आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं। गृहस्थ-जीवन के प्रति शैशव से ही विरक्ति होने के कारण काव्य और कला को आपने अपनी जीवन-साधना का लक्ष्य बनाया हुआ है। भारतीय दर्शन-शास्त्र तथा उपनिषदों के प्रति गहरा अनुराग ही आपको अध्यात्म-तत्व की ओर आकृष्ट करता रहा है और इसी कारण रहस्य-परक रचनाओं की ओर भी आपकी स्वाभाविक रूप से प्रवृत्ति रही है। वर्तमान काल के कवियों में रहस्यवादी भावना का अंकन आपकी रचनाओं में ही सर्वोत्तम रीति से हुआ है।

महादेवी जी निसर्गतः कवि हैं। काव्य-क्षेत्र में आपने जो सफलता प्राप्त की है वह किसी हिन्दी-प्रेमी से छिपी नहीं। किन्तु कविता के साथ-साथ गद्य-क्षेत्र में भी आपने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। 'यामा' और 'दीप-शिखा' की भूमिका के रूप में आपने जो लिखा है वह निश्चय ही हिन्दी-गद्य का श्रेष्ठतम रूप है। 'अतीत के चल-चित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' आपके आत्म-संस्मरणात्मक गद्य के प्रतीक हैं। कल्पना, अनुभूति और चिन्तन का जैसा समवेत प्रभाव महादेवी जी की इन रचनाओं में प्रस्फुटित हुआ है, हिन्दी के विरले ही लेखकों में उस कोटि की गद्य-रचना की प्रतिभा दृष्टिगत होती है। उनका सहज-संवेदन-शील तथा संघर्षमय-जीवन ही उनकी वाणी का वर्चस्व लेकर जैसे इन स्मृति की रेखाओं और चल-चित्रों में मुखर हो उठा हो। 'शृंखला की कड़ियाँ' आपकी एक और सुन्दर रचना है।

महादेवी जी की गद्य-शैली कविता के समान रहस्यमयी या अव्यक्त नहीं है; कल्पना की उड़ान से रहित, अनुभूति का गहरा पुट होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति इतनी मार्मिक और आकर्षक है कि पाठक सहज ही उसमें लीन होकर रसानुभूति करने लगता है। कवित्व का मधु-सिंचन करके वे अपने गद्य को शुष्क, बोझिल और दुरूह होने से बचा लेती हैं। सामाजिक विषयों पर लिखे गये लेखों में एक प्रकार का तीव्र-दंश, ज्वाला और पैनी तार्किकता पायी जाती है। प्रत्येक वाक्य से ही नहीं— शब्द से भी—पाठक के अन्तरतम में वर्ण्य विषय के प्रति सजगता और आकुलता पैदा करने की आप में अद्भुत क्षमता है। आत्म-संस्मरणों में उनकी शैली प्रवाहपूर्ण और प्रसाद-गुण समन्वित रहती है। भावों को सजीव करके उनको चित्रमय बनाकर खड़ा करने की कला में आप प्रवीण हैं। संस्कृत की तत्सम पदावली के बाहुल्य और विचारों की प्रौढ़ता ने जहाँ उनके गंभीर निबन्धों को अभिव्यंजना की दृष्टि से दार्शनिकता के समीप ले जाकर खड़ा किया है वहाँ दूसरी कोटि के लेखों में तद्भव तथा सहज शब्दावली के चमत्कार ने उन्हें आख्यायिका या उपन्यास-लेखक की भूमिका में उपस्थित किया है। मौलिकता उनके निबन्धों की विशेषता है, वैयक्तिकता उनकी पहचान है, अभिव्यंजना की पटुता ही उनका सौष्ठव है।

'रामा' शीर्षक लेख लेखिका के एक नौकर का संस्मरण है जो बचपन में इनके घर अपनी विमाता के अत्याचारों से प्रताड़ित होकर आ गया था। बाहर से देखने में कुरूप होने पर भी रामा का व्यक्तित्व निश्छल और स्वच्छ था। रामा का चरित्र, स्वभाव तथा उसके जीवन से इतर जगत् पर पड़ने वाले प्रभावों को जिस शैली से महादेवी जी ने अङ्कित किया है वह सजीव अभिव्यक्ति का चरम उत्कर्ष है। पाठक की चित्तवृत्ति इस वर्णन में इतनी गहराई के साथ लीन होती है कि उसे रामा के रूप का जैसे साक्षात्कार हो उठता है।

: ८ :

रामा

[महादेवी वर्मा]

रामा हमारे यहाँ कब आया, यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहन। बचपन में जिस प्रकार हम बाबूजी की विविधताभरी मेज़ से परिचित थे, जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनों की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे जिस पर सोकर हम कच्छमत्स्यावतार जैसे लगते थे और मां के शंख-घड़ियाल से घिरे ठाकुरजी को पहचानते थे, जिनका भोग अपने मुँह में अन्तर्धान कर लेने के प्रयत्न में हम आधी आंखें मींचकर बगुले के मनोयोग से घण्टी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीरवाले रामा के बड़े नखों से लम्बी शिखा तक हमार सनातन परिचय था।

सांप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गांठदार टहनियों जैसी उँगलियोंवाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से सोने के समय तक हमारा उनसे जो विग्रह चलता रहता था, उसकी अस्थायी सन्धि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाएँ खोजती हुई उँगलियों के बिखरे कुटुम्ब को बड़े-बूढ़े के समान संभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गए थे, क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागने पर भी वे मानो पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता

गम्भीर और प्रशांत होती है तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगती हैं, पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं उस समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जानेवाली, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर-फिर ढक लेती है।

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेह-तरल आँखें कभी-कभी स्मृतिपट पर अंकित हो जाती हैं और धुंधली होते-होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झुंझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, सांस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलानेवाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति के संबन्ध में भी यही सत्य है।

रामा के बालों को तो आध इंच से अधिक बढ़ने का अधिकार ही नहीं था इसीसे उसकी लम्बी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिए घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊं का ठौर थी; क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था; परन्तु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमें असह्य थी।

वास्तव में जीवन सौन्दर्य की आत्मा है; पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्त्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे-जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसीसे वह केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ उसे जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं, वहाँ वह व्यक्त विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष-घृणा आदि के धूम से जीवन ढका रहता है वहाँ वह बाह्य

सामञ्जस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसी से रामा हमें बहुत अच्छा लगता था। जान पड़ता है, उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था, तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनों तक ऊंची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकांश को प्रदर्शनी करता रहता था। उसके पास सजने के उपयुक्त सामग्री का अभाव नहीं था; क्योंकि कोठरी में अस्तर लगा लम्बा कुरता, बँधा हुआ साफा, बुन्देलखण्डी जूते और गँठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते जान पड़ते थे। उनकी अखण्ड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति में यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाहों में लाठी को अटकाकर खिलौनों का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूंटी से उतार कर उसे गुड़ियों का हिंडोला बनने का सम्मान दिया जावे और बुन्देलखण्डी जूतों को हौज़ में डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबन्ध किया जावे। पर रामा अपने अंधेरे दुर्ग के चर्रमर्र से डाटते हुए द्वार को इतनी ऊंची अर्गला से बन्द रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके, वह भी उसीके समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ बड़ी-पापड़ आदि के अक्षयकोष को धूप दिखा रही थीं तब न जाने कब दुर्बल और क्लांत रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह 'ए मताई ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो' कहता हुआ उनके पैरों पर लोट गया। दूध-मिठाई आदि का रसायन देकर मां जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं तब समस्या और भी जटिल हो गई; क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुन्देलखण्ड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से

भागकर माँगता-खाता इन्दौर तक जा पहुँचा, जहाँ न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा तो आश्चर्य क्या।

उस दिन संध्या समय जब बाबूजी लौटे तब लकड़ी रखने की कोठरी के एक कोने में रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे, दूसरे में लम्बी लाठी समाधिस्थ थी, और हाथ मुँह धोकर नये सेवाव्रत में दीक्षित रामा हक्का-बक्का-सा अपने कर्त्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

बाबूजी तो उसके अपरूप रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गए। हँसते-हँसते पूछा, "यह किस लोक का जीव ले आए हैं, धर्मराज जी ?" मां के कारण हमारा घर अच्छा-खासा ज़ू (चिड़ियाघर) बना रहता था। बाबूजी जब लौटते तब प्रायः कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खंजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहनकर आँगन में चौकड़ी भरता दिखाई देता और कभी कोई वृद्धा ब्राह्मणी भंडार-घर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।

बाबूजी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की; पर उन्हें चिढ़ाने में वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षणभर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं, "मैंने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।"

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षणभर विश्राम नहीं करता, वह अपने लिए नौकर रखे, यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उस पर ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया। विनोद से कहा, "ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावें ऐसे ख़ास सांचे में ढले सेवक ही तो धर्मराजजी की सेवा में रह सकते हैं।"

उन्हें अज्ञातकुलशील रामा पर विश्वास नहीं हुआ, पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता; क्योंकि वे किसी की पात्रता-अपात्रता का मापदण्ड अपनी सहज समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया, उसमें अक्षय सौंदर्य न होगा, ऐसा सन्देह उनके लिए असम्भव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया; पर उसका कर्त्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोईघर का कार्य माँ किसी को सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के सम्बन्ध में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था, भोजन बनाने के सम्बन्ध में उससे कम नहीं।

एक ओर यदि उन्हें विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है तो दूसरी ओर दृढ़ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए नितांत आवश्यक है।

हम सब एक-दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बड़े थे, अतः हमारे अबोध और समझदार होने के समय में विशेष अन्तर नहीं रहा। निरन्तर यज्ञ-ध्वंस में लगे दानवों के समान हम माँ के सभी महान् अनुष्ठानों में बाधा डालने की ताक में मँडराते रहते थे, इसीसे वे रामा को, हम विद्रोहियों को वश में रखने का गुरु कर्त्तव्य सौंपकर कुछ निश्चित हो सकीं।

रामा सबेरे ही पूजा-घर साफकर वहाँ के बर्तनों को नींबू से चमका देता। तब वह हमें उठाने आता। उस बड़े पलंग पर सबेरे तक हमारे सिर-पैर की दिशा और स्थितियों में न जाने कितने उलटफेर हो चुकते थे। किसी की गर्दन को किसी का पाँव नापता रहता था, किसी के हाथ पर किसी का सर्वांग तुलता होता था और किसी की साँस रोकने के लिए किसीकी पीठ दीवार बनी मिलती थी। सब परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये रामा का कठोर हाथ कोमलता के छद्मवेश में, रज़ाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता

था और तब वह किसी को गोद के रथ, किसी को कंधे के घोड़े पर तथा किसी को पैदल ही, मुख-प्रक्षालन जैसे समारोह के लिये ले जाता।

हमारा मुँह हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नहीं था; क्योंकि रामा को 'दूध बतासा राजा खाय' का महामंत्र तो लगातार जपना ही पड़ता था, साथ ही हम एक-दूसरे का राजा बनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। रामा जब मुझे राजा कहता तब नन्हे बाबू चिड़िया की चोंच जैसा मुँह खोलकर बोल उठता, "लामा इन्हें कौं लाजा कहते हो ?" 'र' कहने में भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दम्भ कदाचित् मुझे बहुत अस्थिर कर देता था। रामा के एक हाथ की चक्रव्यूह जैसी उंगलियों में मेरा सिर अटका रहता था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओं वाली हथेली सुदर्शनचक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे मैं साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को संतुष्ट करने का अमोघ मंत्र जानता था। वह मेरे कान में हौले से कहता, "तुमईं बड्डे राजा हौ जू, नन्हे नइयाँ" और कदाचित् यही नन्हे के कान में भी दुहराया जाता; क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिबिया में नन्ही उङ्गली डालकर दाँतों के स्थान में ओठ मांजने लगता। ऐसे काम के लिये रामा का घोर निषेध था, इसीसे मैं उसे ऐसे गर्व से देखती मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिये सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आँख मूँद कर कौवे द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आँख

मूँदते, वैसे ही किसीके मुँह में अंगूर, किसीके दांतों में बिस्कुट और किसीके ओठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था; क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली-मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौवे की काली, कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आँखों से मैं काल्पनिक कौवे और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उँगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड़कर उठ भागना अवश्यम्भावी था।

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति नहीं हो जाती थी। नहाते समय आँख को साबुन के फेन से तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचाना, कपड़े पहनते समय उनके उलटे सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाए रहना, खाते समय भोजन की मात्रा और भोक्ता की सीमा में अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावयस्कता हमारे हाथी, घोड़े, उड़नखटोले आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख-जैसे हाथों को फैलाकर कथा सुनाते-सुनाते हमें स्वप्न-लोक के द्वार तक पहुँचा आना रामा का ही कर्त्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उसपर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरान्त माँ से हमें कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कन्धे पर बैठाया और दूसरे को गोद में लिया तब मुझे उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा, "उँगरियाँ जिन छोड़ियो राजा भइया।" सिर हिलाकर स्वीकृति देते-देते ही मैंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी तब रामा का स्मरण आना स्वाभाविक था। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर मैंने

यथासम्भव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया "क्या तुमने रामा को देखा है? वह खो गया है।" बूढ़े हलवाई ने धुँधली आँखों में वात्सल्य भरकर पूछा, "कैसा है तुम्हारा रामा?" मैंने ओठ दबाकर सन्तोष के साथ कहा, "बहुत अच्छा है।" इस हुलिया से रामा को पहचान लेना कितना असम्भव था, यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी; परन्तु पाँव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमंत्रण नहीं था, इसीसे दूकान के एक कोने में बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठकर मैं बूढ़े से मिले मिठाईरूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान् यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहाँ मुझे ढूँढते-ढूँढते रामा के प्राण कण्ठगत हो रहे थे। सन्ध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा तब मैंने विजयगर्व से फूलकर कहा, "तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो, रामा!" रामा के कुम्हलाये मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आँसू ढुलक पड़े। वह मुझे घुमा-घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अंग मेले में छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ों के कोश में छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है; पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्य-भरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक बार अपनी और पराई वस्तु का सूक्ष्म और गूढ़ अन्तर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था! कहांसे कौन-सी पराई चीज़ लाकर रामा की छोटी आँखों को निराश विस्मय से लबालब भर दें, इसी चिन्ता में हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से एक ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ

था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था। हाँ, राह एक बालिश्त चौड़ी मुंडेर मात्र थी, जहाँ से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आंगन में लगे फूल पराई वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं, यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हम लोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए, उस आकाश-मार्ग से फूल चुराने चले। किसी का भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती; पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गये। नीचे के ज़ीने की अन्तिम सीढ़ी पर एक कुतिया नन्हे-नन्हे बच्चे लिये बैठी थी, जिन्हें देखते ही हमें वस्तु के सम्बन्ध में अपना निश्चय बदलना पड़ा; पर ज्योंही हमने एक पिल्ला उठाया, त्योंही वह निरीह-सी माता अपने इच्छा भरे अधिकार की घोषणा से धरती-आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाव वाले गृहस्वामी निकल आए और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनी दौड़ पड़ीं तब हम बड़े असमंजस में पड़ गए। ऐसी स्थिति में क्या किया जाता है, यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं, अतः हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मन्तव्य प्रकट कर दिया। कहा, "हम छत की राह से फूल चुराने आये हैं।" गृहस्वामी हँस पड़े। पूछा, "लेते क्यों नहीं ?" उत्तर और भी गम्भीर मिला, "अब कुतिया का पिल्ला चुरायेंगे।" पिल्ले को दबाये हुए जब तक हम उचित मार्ग से लौटें तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेश-रूपी अमृत-वृक्ष में यह विषफल लगते देख वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा, क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकड़ कर अधर में उठाते हुए पूछा, "कहो जू, कहो जू, किते गए रहे ?" पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमान-जनक लगता था, इसीसे दाँतों से ओठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दण्ड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ से कहा, "रामा ने मेरे कान खींचकर टेढ़े भी कर दिये हैं, और बड़े भी।

अब डाक्टर को बुला कर इन्हें ठीक करवा दो और रामा को अंधेरी कोठरी में बन्द कर दो।" वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था, इसलिये उसे बच्चों से दुर्व्यवहार न करने के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच बहुत लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था, उतना ही उसके राजा-भइया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी सन्ध्या समय रामा को खिन्न मुद्रा से बाहर बैठा देखकर मैंने 'गीत सुनाओ' कहकर संधि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था—"ऐसो सिय रघुबीर भरोसो" और उसे वह जिस प्रकार गाता था, उससे पेड़ पर के चिड़िया-कौवे तक उड़ सकते थे; परन्तु हम लोग उस अपूर्व गायक के अद्‌भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसीसे रामा का उसमें विशेष महत्व है।

उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आँगन में गानेवालियाँ, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के बूढ़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बड़ी-बूढ़ियाँ संकेत से मूक गाने वालियों को जाने के लिये कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजे वालों को विदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल में कब ऐसा हुआ, यह तो पता नहीं, पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नहीं पधारीं तब चिन्ता होने लगी; क्योंकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता, वैसे ही बिना कन्या के कन्यादान का

महायज्ञ सम्भव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिये अपना फारसी-ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूंढ लाये, जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा-मोटा घर का नाम देने का भी साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिये सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क में इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह-छाया के बिना मैं जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नहीं, इसमें सन्देह है। मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं, 'आ' पर उँगली रखकर आदमी के स्थान में, आम, आलमारी, आज आदि के द्वारा मन को बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मैं अपने भाई-बहनों के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नहीं रखती थी। मुझे उनके सभी कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक में ढूंढ़ लेने की क्षमता प्राप्त थी और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरन्तर सतर्क रहना पड़ता था। नन्हें बाबू उछला नहीं कि मैंने किताब खोलकर पढ़ा, "बन्दर नाच दिखाने आया।" मुन्नी रूठी नहीं कि मैंने सुनाया, "रूठी लड़की कौन मनावे, गरज पड़े तो भागी आवे।" वे बेचारे मेरे शास्त्र-ज्ञान से बहुत चिन्तित रहते थे; क्योंकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टान्त ढूंढ़ लेने का साधन उनके पास नहीं था, पर अक्षरज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा-कहानी-कहावत आदि का जैसा वृहत् कोष था, वैसा सौ पुस्तकों में भी न समाता। इसी से जब मेरा शास्त्र-ज्ञान महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर और अपना सबके कान में सुनाकर तुरन्त सन्धि करा देता।

मेरे पण्डितजी से रामा का कोई विरोध न था; पर जब खिलौनों के बीच ही में मौलवी साहब, संगीत-शिक्षक और ड्राइंग मास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह

जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझ से न सँभल सकेगा।

मौलवी साहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिये बड़े से झाबे में छिपकर बैठना पड़ा। अभाग्य से झाबा वही था जिसमें बाबा के भेजे आमों में से दो-चार शेष भी थे। उन्हें निकालकर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ, माँ के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गई। जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्ति कुछ न सूझा। अन्त में रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढ़ने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइंग मास्टर से मुझे कोई शिकायत नहीं रही; क्योंकि वे खेलने से रोकते ही नहीं थे। सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक गोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी। जब किसी और का बनाना होता तब इसी ढाँचे में कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती थी, न रामा। जब उन्होंने पहले दिन संगीत सीखने के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न किया तब मैंने बहुत विश्वास के साथ बता दिया कि मैं रामा से सीखती हूँ। जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध किया तब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभंगी से सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे। उस पर भी जब उन्होंने मेरे सेवक-गुरु रामा को अपने से बड़ा और योग्य गायक नहीं माना तब मेरा अप्रसन्न हो जाना स्वाभाविक था।

रामा के बिना भी संसार का काम चल सकता है, यह हम नहीं मान सकते थे। माँ जब १०-१५ दिन के लिए नानी को देखने जातीं तब रामा को घर और बाबूजी की देख-भाल के लिए रहना पड़ता था। बिना रामा के हम जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत न होते। अतः वे हमें भी छोड़ जातीं।

बीमारी के सम्बन्ध में रामा से अधिक सेवा-परायण और साव-

धान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकली तब वह शेष को लेकर ऊपर के खण्ड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक बार और उसी के कारण मैं एक भयानक रोग से बच सकी हूँ। इन्दौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। माँ और कुछ महीनों की अवस्था वाला छोटा भाई इतना बीमार था कि बाबूजी हम तीनों की खोज-खबर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जब हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर बैठकर रामा की विचित्र कथाओं को बड़ी तन्मयता से सुनते थे तभी एक दिन हल्के से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आई। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी सुनाई थी जिसके फूले पैर में से भगवान् ने एक वीर मेंढक उत्पन्न कर दिया था। मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, "मालूम होता है, मेरे कान से कहानीवाला मेंढक निकलेगा।" वह बेचारा तो सन्न हो गया। फिर ईंट के गरम टुकड़े को गीले कपड़े में लपेट कर उसने उसे कितना सेंका, यह बताना कठिन है। सेंकते-सेंकते वह न जाने क्या बड़बड़ाता रहता था जिसमें कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान् का नाम सुनाई दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा ही नहीं। तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गई; पर रामा को तेज़ बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गई और वह बहुत बीमार रहा; पर उसे सन्तोष था कि मैं सब कष्टों से बच गई। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास माँ हमें ले जा सकीं तब हमें देखकर उसके सूखे ओठ मानो हँसी से भर आए, धँसी आँखें उत्साह में तैरने लगीं और शिथिल शरीर में एक स्फूर्ति तरंगित हो उठी। मां ने कहा, "तुमने इसे बचा लिया था रामा! जो हम तुम्हें

न बचा पाते तो जीवनभर पछताना रह जाता।" उत्तर में रामा बढ़े हुए नाखूनवाले हाथ से मां के पैर छूकर अपनी आँखें पोंछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब मां प्रायः कहने लगीं, "रामा, अब तुम घर बसा लो जिससे अपने बाल-बच्चों का सुख देख सको।"

"बाई की बातें! मोय नासमिटे अपनन खों का कनने हैं, मोरे राजा हरे बने रहें—जेई अपने रामा की नैया पार लगा देहें!"—ही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्य कर इतनी बातें सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नहीं हो गए थे, उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी पहचान गए थे। हमें विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हें कभी 'नासमिटा', 'मुँहझौंसा' आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी-जूता आदि निकालकर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ तब हम सब बहुत सभीत हो गए; क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर सन्देह-भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, "क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?" रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया, "हाँ राजा भइया, ऐसी देहों नासमिटन के।" पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू की मां के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

हमारे लिए अनन्त और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरान्त एक दिन सबेरे ही केसरिया साफा और गुलाबी धोती में सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और 'राजा भइया, राजा भइया' पुकारने लगा। हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पड़े; पर बरामदे ही में सहम कर अटक रहे। रामा तो अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ में चूड़े और पांव में पैंजना पहने जो घूँघटवाली स्त्री खड़ी थी उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशंकित

कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़कर झूलने लगी तब नाक की नोक को छू लेने वाले घूँघट में से दो तीक्ष्ण आँखें उसके कार्य का मूक विरोध करने लगीं। नन्हें जब रामा के कन्धे पर आसीन होने के लिए ज़िद करने लगा तब घूँघट में छिपे सिर में एक निषेध-सूचक कम्पन जान पड़ा और जब मैंने झुककर उस नवीन मुख को देखना चाहा तब वह मूर्ति घूमकर खड़ी हो गई। भला ऐसे आगन्तुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे रामा की अन्धेरी कोठरी में महाभारत के अंकुर जमते गए और हमारे खेल के संसार में सूखा पड़ने की सम्भावना बढ़ती गई। हमारे खिलौनों के नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मय दानव भी; पर अब वह अपने गुरु कर्त्तव्य के लिए अवकाश ही नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूँघटवाली मूर्ति पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नहीं, गुड्डे-गुड़ियों का भी दम घुटने लगता था। इसीसे एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान में बैठना चाहिए, अतः मैं मेज पर चढ़कर धरती तक न पहुँचने वाले पैर हिलाती हुई विराजी। मन्त्री महोदय कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापतिजी स्टूल पर जमे। तब राजा ने चिन्ता की मुद्रा से कहा, "रामा इसे क्यों लाया है?" मन्त्रीजी ने गम्भीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया, "रामा इसे क्यों लाया है?" और सेनापति 'र' न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिए आँखें तरेरते हुए बोले "लच है, इछे कौं लाया है?"

फिर उस विचित्र समिति में सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे एकछत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है, उसे न्याय की मर्यादा से स्वार्थ दण्ड मिलना ही चाहिए। यह कार्य नियमानुसार सेनापतिजी को सौंपा गया।

रामा की बहू जब रोटी बनाती तब नन्हें बाबू चुपके से उसके

चौके के भीतर बिस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। न जाने कितने दण्ड उसे मिलने लगे; पर उसकी ओर से न क्षमा-याचना हुई और न संधि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध में और अधिक दृढ़ हो गई और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके सांवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुण्ठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसीसे हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अन्त में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे और रख दे तो स्वयं जिये कैसे? फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बन्धन से मुक्ति पाई; क्योंकि वह हमारी अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिर-प्रसन्न विधाता बनकर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर मां को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था! रामा पत्नी को हमारे पुराने खिलौने के समान फेंक दे, यह उन्हें बहुत अनुचित जान पड़ा, इसलिए रामा को कर्त्तव्य-ज्ञान-सम्बन्धी विशद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी, जो उस विद्यार्थी में मिलती है जिसे पिता से स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका। बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है। मां ने रुपये भेजे, आने के लिए पत्र लिखा; पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हें बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था; पर उड़ने वाला घोड़ा

न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी-लाल झंडी दिखाने वाले के बिना उसका चलना-ठहरना सम्भव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था; पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचानेवाला छोटे भइया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वंस बनाने के अभ्यास में दिनों-दिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौनों के बीच में प्रतिष्ठित कर हम सब बारी-बारी से रामा की कथा सुनाने के उपरान्त कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बांधकर लाठी लिये हुए लौटेगा तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए भी रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि 'राजा भइया' कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार सा सौन्दर्य भ्रान्ति हो गया है; पर रामा आज भी सत्य है; सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक्, निस्तन्द्र, पर स्नेह-तरल।
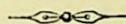
श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री जैनेन्द्रकुमार का जन्म सन् १९०५ ई० में उत्तरप्रदेश के अलीगढ़ जिले के कौड़ियागंज ग्राम में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा जैन गुरुकुल हस्तिनापुर में हुई। बाद में काशी विश्वविद्यालय में इण्टरमीजिएट तक पढ़े। सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ होने पर आपने कॉलेज त्याग दिया और आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। सम्प्रति आप स्वतंत्र रूप से लेखक का ही जीवन व्यतीत करते हैं और दिल्ली आपका निवास-स्थान बन गया है।

श्री जैनेन्द्र जी हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक तथा कहानीकार हैं। कथा-साहित्य के क्षेत्र में अपनी मौलिक प्रतिभा से आपने अपना विशिष्ट स्थान बनाया हुआ है। जीवन की गम्भीर और सूक्ष्म भावनाओं को आपने उपन्यास द्वारा वाणी और अभिव्यक्ति दी है। जीवन के दार्शनिक तथ्यों को उपन्यास की मोहक शैली से अङ्कित किया है। जगत् और जीवन की उलझनों को सुलझाने का एक माध्यम कहानी भी है यह बात बहुत ही जोरदार शब्दों में सब से पहले आपने कही। कहानी की शास्त्रीय मर्यादा या टैक्नीक को उन्होंने अपने ऊपर ज्यों का त्यों लागू नहीं होने दिया। भाषा, भाव और अभिव्यंजना-शैली में वे एकदम नये हैं—मौलिकता ही उनकी विशेषता है। मानव मन के आभ्यन्तर को जानने-परखने की उनकी अपनी विवेचन शैली है।

कहानी तथा उपन्यास के साथ ही आपने प्रचुर परिमाण में विचारोत्तेजक निबन्ध तथा लेख लिखे हैं। आपके निबन्धों में गम्भीर विचारधारा का सूक्ष्म-दार्शनिक-शैली से वर्णन देखकर पाठक को लगता है कि वह किसी

दार्शनिक मनीषी के पास बैठकर प्रवचन सुन रहा है। गांधीवाद से प्रभावित होने के कारण अहिंसा, तप, त्याग, प्रेम, उत्सर्ग और मानवतावाद की स्थापना प्राय: आपके निबन्धों में होती है। जीवन के बाह्य विषयों और उपकरणों की उपादेयता स्वीकार करते हुए भी आप उन्हें आत्यन्तिक सुख प्राप्ति का साधन नहीं मानते। जीवन और जगत् को स्पर्श करने वाले अनेक विषयों पर आपने निबन्ध लिखे हैं। साहित्य, कला, राजनीति, समाज, राजा-प्रजा, समाजवाद, साम्यवाद, धर्म, कर्म सभी विषय आपके निबन्धों में देखे जा सकते हैं। 'श्रेय और प्रेय' आपके विचारों की झाँकी देने वाला एक उत्तम ग्रन्थ है जिसमें आपने इन सब विषयों पर सुन्दर शैली से प्रकाश डाला है। एक स्वतन्त्र तथा मौलिक प्रतिभा के विचारशील लेखक का निखरा हुआ रूप हमें जैनेन्द्र में ही देखने को मिलता है।

जैनेन्द्र की अभिव्यंजना शैली, भाषा और शब्द-चयन की दृष्टि से सर्वथा नूतन है। खड़ी-बोली को उर्दू के प्रचलित तथा सरल व्यावहारिक रूप के साथ जोड़कर बोल-चाल की सामान्य अभिव्यक्ति से मिला देने का कौशल आप में इतना अधिक है कि कहीं-कहीं तो हम विषय की गंभीरता और अभिव्यक्ति की सहजता पर चकित हो जाते हैं। वाक्य छोटे-छोटे और अपने विन्यास की विचित्रता के कारण बड़े मोहक लगते हैं। ऐसा लगता है कि लेखक एक प्रश्न या समस्या को लेकर अन्तर्मन में उसका मन्थन कर रहा है और मन्थन की वेला में समुद्भूत शंकाओं को उठाता हुआ बड़े सहज रूप से उनका समाधान देता जाता है। समस्या के मूल में पैठकर उसका नवनीत ले आना ही विचारात्मक— रिफ्लेक्टिव— निबन्धों की सफलता है। अपनी मौलिक अभिव्यञ्जना का बोल-चाल के साथ तादात्म्य करने के लिए यदि व्याकरण के नियमों की अवहेलना भी हो तो लेखक उसकी चिन्ता नहीं करता। विचारशील मनस्वी निबन्ध-लेखकों में जैनेन्द्र का नाम इन सब दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत निबन्ध 'आप क्या करते हैं'—एक विचारोत्तेजक विषय पर लिखा हुआ ऐसा निबन्ध है जो साधारण प्रश्नों की भाषा में जटिलतम गुत्थियों को सुलझाता हुआ आगे बढ़ता है। वकील, डाक्टर, अध्यापक, कौंसिलर, व्यापारी सभी कुछ काम करते हैं। प्रत्येक का काम भिन्न-भिन्न है। कोई केवल बात करके अपना काम करता है तो कोई व्यापार करके काम करने की बात निबाहता है। इस करने में और न करने में छोटा-बड़ा क्या ? 'काम' क्या है और क्या नहीं है यह निर्णय करना सहज नहीं। "किंकर्म किंकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।" कर्म इसी रहस्यमयी गुत्थी को लेखक ने सरलतम शैली से सुलझाने का प्रयत्न किया है।

———

: ९ :

आप क्या करते हैं ?

[जैनेन्द्रकुमार]

जब पहले पहल दो व्यक्ति मिलते हैं तो परस्पर पूछते हैं, 'आपका शुभ नाम ?' नाम के बाद अगर आगे बढ़ने की वृत्ति हुई तो पूछते हैं, 'आप क्या करते हैं ?'

'क्या करते हैं ?' इसके जवाब में एक दूसरे को मालूम होता है कि उनमें से एक वकील है, दूसरा डाक्टर है। इसी तरह वे आपस में दूकानदार, मुलाज़िम, अध्यापक, इंजीनियर आदि हुआ करते हैं।

पर इस तरह के प्रश्न के जवाब में मैं हक्का-बक्का रह जाता हूँ। मैं डाक्टर भी नहीं हूँ, वकील भी नहीं हूँ, कुछ भी ऐसा नहीं हूँ जिसको कोई संज्ञा ठीक-ठीक ढक सके। बस वही हूँ जो मेरा नाम है। मेरा नाम दयाराम है तो दयाराम मैं हूँ। नाम रहीमबख्श होता तो मैं रहीमबख्श होता। 'दयाराम' शब्द के कुछ भी अर्थ होते हों, और 'रहीमबख्श' के भी जो चाहे माने हों, मेरा उनके मतलब से कोई मतलब नहीं है। मैं जो भी हूँ वही बना रहकर दयाराम या रहीमबख्श रहूँगा। मेरा सम्पूर्ण और सच्चा परिचय इन नामों से आगे होकर नहीं रहता, न भिन्न होकर रहता है। इन नामों के शब्दों के अर्थ तक भी वह परिचय नहीं जाता क्योंकि नाम नाम है, यानी वह ऐसी वस्तु है जिसका अपना आपा कुछ भी नहीं है। इसलिए उस नाम के भीतर सम्पूर्णता से मैं ही हो गया हूँ।

ख़ैर, वह बात छोड़िए। मुझसे पूछा गया, 'आपका शुभ नाम ?'

मैंने बता दिया—'दयाराम'। दया का या और किसी का राम मैं किसी प्रकार भी नहीं हूँ। पर किसी अतर्क्य पद्धति से मेरे दयाराम हो रहने से उन पूछने वाले मेरे नए मित्रों को मेरे साथ व्यवहार करने में सुभीता हो जायगा। जहाँ मैं दीखा, बड़ी आसानी से पुकार कर वह पूछ लेंगे, 'कहो दयाराम, क्या हाल है?' और मैं भी बड़ी आसानी से दयाराम के नाम पर हँस-बोलकर उन्हें अपना या इधर-उधर का जो हाल-चाल होगा, बता दूँगा।

यहाँ तक तो सब ठीक है। लेकिन, जब यह नए मित्र आगे बढ़कर पूछते हैं, 'भाई करते क्या हो?' तब मुझे मालूम होता है कि यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि क्या करूँ? 'क्या करूँ' का प्रश्न तो मुझे अपने पग-पग आगे बैठा दीखता है। जी होता है, पूँछू, क्या, क्या आप बताइएगा, क्या करूँ?' मैं क्या-क्या बताऊँ कि आज यह यह किया—सवेरे पाँच बजे उठा, छः बजे घूमकर आया, फिर बच्चे को पढ़ाया, फिर अख़बार पढ़ा, फिर बगीचे की क्यारियाँ सींचीं, फिर नहाया, नाश्ता किया,—फिर यह किया, फिर वह किया। इस तरह अब तीन बजे तक कुछ न कुछ तो मुझसे होता ही रहा है, यानी मैं करता ही रहा हूँ। अब तीसरे पहर के तीन बजे यह जो मिले हैं नए मित्र, तो इनके सवाल पर क्या मैं इन्हें सवेरे पाँच से अब तीन बजे तक की अपनी सब कार्रवाइयों का बखान सुना जाऊँ? लेकिन, शायद, यह वह नहीं चाहते। ऐसा मैं करूँ तो शायद हमारी उगती हुई मित्रता सदा के लिए वहीं अस्त हो जाय। यदि उनका अभिप्राय वह जानना है जो उनके प्रश्न पूछने के समय मैं कर रहा हूँ, तो साफ़ है कि मैं उनका प्रश्न सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ। तब यह कह पड़ूँ कि, 'मित्रवर, मैं आपकी बात सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ।' नहीं ऐसा कहना ठीक न होगा। मित्र इससे कुछ समझेंगे तो नहीं, उलटा बुरा मानेंगे। दयाराम मूर्ख तो हो सकता है, पर बुरा होना नहीं चाहता। इसलिए उस प्रश्न के जवाब में मैं, मूर्ख का मूर्ख, कोरी

निगाह से बस उन्हें देखता रह जाता हूँ।—बल्कि, थोड़ा-बहुत और भी अतिरिक्त मूढ़ बनकर लाज में सकुचा जाता हूँ। पूछना चाहता हूँ कि कृपया आप बता सकते हैं कि मैं क्या करूँ ?—यानी क्या कहूँ कि यह करता हूँ ?

किन्तु, यह सौभाग्य की बात है कि मित्र अधिकतर कृपा-पूर्वक यह जानकर सन्तुष्ट होते हैं कि दयाराम मेरा ही नाम है। वह नाम अख़बारों में कभी-कभी छपा भी करता है। इससे, दयाराम होने के बहाने मैं बच जाता हूँ। यह नाम की महिमा है। नहीं तो, दिन में जाने कितनी बार मुझे अपनी मूढ़ता का सामना करना पड़े।

आज अपने भाग्य के व्यंग पर मैं बहुत विस्मित हूँ। किस बड़-भागी पिता ने इस दुर्भागी बेटे का नाम रखा था 'दयाराम' उन्हें पा सकूं तो कहूं, 'पिता, तुम खूब हो। बेटा तो डूबने ही योग्य था, किन्तु तुम्हारे दिए नाम से ही वह भोला, चतुर मित्रों से भरे, इस दुनिया के सागर में उतराता हुआ जी रहा है। उसी नाम से वह तर जाय तो तर भी जाय। नहीं तो, डूबना ही उसके भाग्य में था। पिता, तुम जहाँ हो, मेरा प्रणाम लो। पिता, मेरा विनीत प्रणाम ले लो। उस प्रणाम की कृतज्ञता के भरोसे ही, उसी के लिए, मैं जी रहा हूँ, जीना भी चाहता हूँ, पिता, नहीं तो, मैं एकदम मतिमंद हूँ और जाने क्यों जीने लायक़ हूँ।'

पर आप से बात करते समय पिता की बात छोड़ूँ। अपने इस जीवन में मैंने उन्हें सदा खोया पाया। रो-रोकर उन्हें याद करने से आपका क्या लाभ ? और आपको क्या, मुझे क्या—दोनों को आपके लाभ की बात करनी चाहिये।

तो मैंने कहा, 'कृपा-पूर्वक बताइये, क्या करूं ? बहुत भटका पर मैंने जाना कुछ नहीं। आप मिले हैं, अब आप बता दीजिये।'

उन नये मित्र ने बताया कुछ नहीं, वे बिना बोले आगे बढ़ गये। मैं भी चला। आगे उन्हें एक अन्य व्यक्ति मिले। पूछा, 'आप क्या

करते हैं ?'

उत्तर मिला, 'मैं डाक्टर हूँ ।'

सज्जन मित्र ने कहा, 'ओः आप डाक्टर हैं। बड़ी खुशी हुई। नमस्ते डाक्टर जी, नमस्ते खूब दर्शन हुए। कभी मकान पर दर्शन दीजिये न।—जी हाँ, यह लीजिये मेरा कार्ड।—रोड पर—कोठी है।—जी हां, आपकी ही है। पधारियेगा। कृपा-कृपा। अच्छा नमस्ते।'

मुझे इन उद्‌गारों पर बहुत प्रसन्नता हुई। किन्तु, मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे दयाराम होने से उन व्यक्ति का डाक्टर होना किसी कदर अधिक ठीक बात है। लेकिन, दयाराम होना भी कोई ग़लत बात तो नहीं है।

किन्तु मित्रवर कुछ आगे बढ़ गये थे। मैं भी चला। एक तीसरे व्यक्ति मिले। कोठी वाले मित्र ने नाम-परिचय के बाद पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

'वकील हूँ।'

'ओः वकील हैं ! बड़ी प्रसन्नता के समाचार हैं। नमस्ते, वकील साहब नमस्ते। मिलकर भाग्य धन्य हुए। मेरे बहनोई भतीजा इस साल ला फाइनल में हैं। मेरे लायक़ खिदमत हो तो बतलाइये। जी हाँ, आप ही की कोठी है। कभी पधारियेगा। अच्छा जी नमस्ते, नमस्ते नमस्ते।'

इस हर्षोद्‌गार पर मैं प्रसन्न ही हो सकता था। किन्तु, मुझे लगा कि बीच में वकीलात के आ उपस्थित होने के कारण दोनों की मित्रता की राह सुगम हो गई है।

यह तो ठीक है डाक्टर या वकील या और कोई पेशेवर होकर व्यक्ति की मित्रता की पात्रता बढ़ जाय इसमें मुझे क्या आपत्ति ? इस संबन्ध में मेरी अपनी अपात्रता मेरे निकट इतनी सुस्पष्ट प्रकट है और वह इतनी निबिड़ है कि उस बारे में मेरे मन में कोई चिन्ता ही

नहीं रह गई है। लेकिन मुझे रह-रहकर एक बात पर अचरज होता है। प्रश्न जो पूछा गया था वह तो यह था कि 'आप क्या करते हैं ?' उत्तर में डाक्टर और वकील ने कहा कि वे डाक्टर और वकील हैं। मुझे अब अचरज यह है कि उन प्रश्नकर्ता मित्र ने मुड़कर फिर क्यों नहीं पूछा कि यह तो ठीक है कि आप डाक्टर और वकील हैं। आप डाक्टर रहिए, आप वकील रहिए। लेकिन कृपया आप करते क्या हैं ?

समझ में नहीं आता कि प्रश्नकर्ता मित्र ने अपने प्रश्न को फिर क्यों नहीं दोहराया, लेकिन, मतिमूढ़ मैं क्या जानूँ ? प्रश्नकर्ता तो मुझ जैसे कम समझ नहीं रहे होंगे। इसलिए डाक्टर और वकील वाला जवाब पाकर वह असली भेद की बात समझ गए होंगे। लेकिन वह असली बात क्या है ?

खैर इन उदाहरणों से काम की सीख लेकर मैं आगे बढ़ा। राह में एक सदभिप्राय सज्जन मिले जिन्होंने पूछा—

'आपका शुभ नाम ?'

'दयाराम'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं कायस्थ हूँ, श्रीवास्तव।'

'जी नहीं आप करते क्या हैं ?'

'मैं श्रीवास्तव कायस्थ हूँ। पाँच बजे उठा था, छः बजे घूमकर लौटा, फिर—और फिर .. ....

लेकिन, देखता क्या हूँ कि वह सज्जन तो मुझे बोलता हुआ छोड़ कर ही आगे बढ़ गये हैं, पीछे घूमकर देखना भी नहीं चाहते। मैंने अपना कपाल ठोक लिया। यह तो मैं जानता हूँ कि मैं मूढ़ हूँ। बिल्कुल निकम्मा आदमी हूँ। लेकिन मेरे श्रीवास्तव होने में क्या ग़लती है ? कोई वकील है कोई डाक्टर है। में वकील नहीं हूँ डाक्टर भी नहीं हूँ। लेकिन मैं श्री वास्तव तो हूँ। इस बात की तसदीक दे और दिला सकता हूँ। अखबार वाले दयाराम श्रीवास्तव छापकर मेरा श्रीवास्तव

होना मानते हैं। मतलब यह नहीं कि मेरी श्री वास्तव है, न यही कि कोई वास्तव श्री मुझ में है, लेकिन जो मेरे पिता थे वही मेरे पिता थे। और वह मुझे अकाट्य रूप से श्रीवास्तव छोड़ गये हैं। जब यह बात बिल्कुल निर्विवाद है तो मेरे श्रीवास्तव होने की सत्यता को जानकर नये परिचित वैसे ही आश्वस्त क्यों नहीं होते जैसे किसी के वकील या डाक्टर होने की सूचना पर आश्वस्त होते हैं?

'आप क्या करते हैं?'

'मैं डाक्टर हूँ।'

'आप क्या करते हैं?'

'मैं वकील हूँ।'

'तुम क्या करते हो?'

'मैं श्रीवास्तव हूँ।'

मैं श्रीवास्तव तो हूँ ही। इसमें रत्ती-भर झूठ नहीं है। फिर, मेरी तरह का जवाब देने पर वकील और डाक्टर भी बेवक़ूफ़ क्यों नहीं समझे जाते?

वे लोग मेरे जैसे, अर्थात् बेवक़ूफ़, नहीं हैं यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तब फिर उनके वकील होने से भी अधिक मैं श्रीवास्तव होकर बेवक़ूफ़ किस बहाने समझ लिया जाता हूँ, यह मैं जानना चाहता हूँ।

'मूर्ख।' एक सद्‌गुरु ने कहा है, 'तू कुछ नहीं समझता। अरे, डाक्टर डाक्टरी करता है, वकील वकालत करता है। तू क्या श्री-वास्तवी करता है?'

यह बात तो ठीक है कि मैं किसी, 'श्री' की कोई वास्तवी नहीं करता। लेकिन, सद्‌गुरु के ज्ञान से मुझ में बोध नहीं जागा। मैंने कहा, 'जी, मैं कोई श्रीवास्तवी नहीं करता हूँ। लेकिन, वह वकालत क्या है जिसको वकील करता है? और वह डाक्टरी क्या है जिसको डाक्टर करता है?'

'अरे मूढ़ ! ' उन्होंने कहा, 'तू यह भी नहीं जानता। अदालत जानता है कि नहीं ? अस्पताल जानता है कि नहीं ?'

'हाँ' मैंने कहा, 'वह तो जानता हूँ।'

'तो बस' गुरु ने कहा, 'अदालत में वकील वकालत करता है। अस्पताल में डाक्टर डाक्टरी करता है।'

'अजी' तो वकालत को वह 'करता' क्या है। जैसे मैं खाना खाता हूँ, यानी खाने को मैं खा लेता हूँ, वैसे वह वकालत को क्या करता है ?'

'अरे तू है मूढ़।' उन्होंने कहा, 'सुन, वह अदालत के हाकिम से बोलता है, बतलाता है, बहस करता है, क़ानूनी बात निकालता है। क़ानून में फँसे लोगों की वही तो सार-संभाल करता है।'

'तो यह बात है कि वह बात करता है, बतलाता है, बहस करता है। क़ानून की बात निकालता है, उसके सताए आदमियों की मदद करता है। लेकिन, आप तो कहते थे कि वह वकालत करता है। वकालत में बात ही तो करता है। फिर वकालत कहाँ हुई ?—बात हुई। बात तो मैं भी कर रहा हूँ। क्यों जी ?'

उन्होंने झल्लाकर कहा, 'अरे, इस सब काम को ही वकालत कहते हैं।'

'तो वकालत करना बात करना है। मैं तो सोचता था, न जाने वह क्या है। अच्छा जी वकालत को करके वह क्या करता है ?— यानी, अदालत में वह बहुत बातें करता है। उन बातों को करके भी, वह क्या करता है ?'

उन्होंने कहा, 'रे मतिमंद, तू कुछ नहीं जानता। बातों ही का तो काम है। बात बिना क्या ? वकील के बातों के ही तो पैसे हैं। उन बातों से वह जीता है, और फिर उन्हीं से बड़ा आदमी बनता है।'

'उन बातों को करके वह बड़ा आदमी बनता है, —अब मैं समझ गया, जी। लेकिन जो बड़ा नहीं है, आदमी तो वह भी है न—क्यों जी ? मैं दिन भर सच-झूठ बात करूं तो मैं भी बड़ा हो जाऊँ ?

और बड़ा न होऊं, तब भी मैं आदमी रहा कि नहीं रहा ?'

उन्होंने कहा, 'तू मूढ़ है। बड़ा तू क्या होगा ? तू आदमी भी नहीं है।'

'लेकिन जी, बात तो मैं भी करता हूँ। अब कर रहा हूँ कि नहीं ? लेकिन फिर भी मैं अपने को निकम्मा लगता हूँ। ऐसा क्यों है ?'

'अरे तू मतलब की, काम की बात जो नहीं करता है।'

'अजी, तो बात करने का काम तो करता हूँ। यह कम मतलब है ?'

वह बोले 'अच्छा, जा जा, सिर न खा। तू गधा है।'

अब यह बात तो मैं जानता हूँ कि गधा नहीं हूँ। चाहूँ तो भी नहीं हो सकता। गधे की तरह सींग तो अगर्चे मेरे भी नहीं हैं. लेकिन इतना मेरा विश्वास मानिए कि यह साम्य होने पर भी गधा नहीं हूँ। मैं तो दयाराम हूँ। कोई गधा दयाराम होता है ? और मैं श्रीवास्तव हूँ,—कोई गधा श्रीवास्तव होता है ? वकील डाक्टर नहीं हूँ, लेकिन श्रीवास्तव तो मैं हर वकालत-डाक्टरी से अधिक सचाई के साथ हूँ। इसलिए, उन गुरुजन के पास से मैं चुपचाप भले आदमी की भाँति सिर झुका कर चला आया।

लेकिन, दुनिया में वकील-डाक्टर ही सब कुछ नहीं हैं। यों तो इस दुनियां में हम जैसे लोग भी हैं जिनके पास बताने को या तो अपना नाम है या बहुत से बहुत कुल-गोत्र का परिचय है। इसके अलावा जिन्होंने इस दुनियाँ में कुछ भी अर्जित नहीं किया है ऐसे अपने जैसे लोगों की तो इनमें गिनती क्या कीजिए। पर सौभाग्य यह है कि ऐसे लोग बहुत नहीं हैं। अधिकतर लोग सम्भ्रांत हैं, गणनीय हैं, और उनके पास बताने को काफी कुछ रहता है।

'आप क्या करते हैं ?'

'बैंकर हूँ।— जी हाँ साहूकार।'

'आप क्या करते हैं ?'

'कारोबार होता है। बम्बई, कलकत्ता, हांगकांग में हमारे

दफ्तर हैं।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं एस० ए० पास हूँ।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं एस० एल० ए० हूँ,—लाट साहब की कौंसिल का मेम्बर।'

'आप क्या करते हैं ?'

'ओः ! आप नहीं जानते ? हं:,—हं: हं: राजा चंद्रचूड़सिंह मुझे ही कहते हैं। गोपालपुर,—८६ लाख की स्टेट, जी हाँ, आपकी ही है।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मुझ राजकवि से आप अनभिज्ञ हैं ? मैं कविता करता हूँ।'

'कविता ! उसका क्या करते हैं ?'

'श्रीमान् मैं कविता करता हूँ। मैं उसीको कर देता हूँ, साहब। और क्या करूँगा ?'

अत्यन्त हर्ष के समाचार हैं कि बहुत लोग बहुत कुछ करते हैं और लगभग सब लोग कुछ न कुछ करते हैं, लेकिन मेरी समझ में न बहुत आता है न कुछ आता है।

दूकान पर बैठे रहना, गाहक से मीठी बात करना और पटा लेना, उसकी ज़ेब से पैसे कुछ ज़्यादा ले लेना और अपनी दूकान से सामान उसे कुछ कम दे देना,—व्यापार का यही तो 'करना' है। इसमें 'किया' क्या गया ?

पर क्यों साहब, किया क्यों नहीं गया ? कसकर कमाई जो की गई है। एक साल में तीन लाख का मुनाफा हुआ है,—आपको कुछ पता भी है ! और आप कहते हैं किया नहीं गया !

लेकिन, दयाराम सच कहता है कि, दो रोज़ के भूखे अपने समूचे तन को और मन को लेकर भी, उन तीन लाख मुनाफे वालों का काम उसे समझ में नहीं आता है।

और साहूकार रुपया दे देता है और ब्याज संभलवा लेता है।

देता है उसी इकट्ठे हुए ब्याज में से। देता कम है, लेता ज्यादा है। इससे वह साहूकार होता जाता है और मोटा होता जाता है।

अगर वह दे ज्यादा और ले कम—तो क्या हम यह कहेंगे कि उसने काम कम किया ? क्यों ? उसने तो देने का काम खूब किया है। लेकिन, इस तरह एक दिन आयगा कि वह साहूकार नहीं रहेगा और निकम्मे आदमियों की गिनती में आ जायगा।

तो साहूकारी 'काम' क्या हुआ ? खूब काम करके भी आदमी जब निकम्मा बन सकता है तो उससे तो यही सिद्ध होता है कि साहूकारी अपने आप में कुछ 'काम' नहीं है।

और राजा, राजकवि, कौंसिलर, एम० ए० पास, - ये सब जो जो भी हैं क्या वह वह मेरे अपने श्रीवास्तव होने से अधिक हैं ? मैं श्रीवास्तव होने के लिए कुछ नहीं करता हूँ। बस यह करता हूँ कि अपने बाप का बेटा बना रहता हूँ। तब, इन लोगों में, इनकी उपाधियों से, अपने आप में कौनसा काम करना गर्भित हो गया,—यह मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता है।

मैं भी बात करता हूँ और कभी-कभी तो बहुत ही बढ़िया बात करता हूँ - सच, आप दयाराम को झूठा न समझें। काम-बेकाम की बातें लिखता भी हूँ, अपने घर में ऐसे बैठता हूँ जैसे कौन्सिलर कौन्सिल में बैठता है, बच्चों पर नवाब बना हुकूमत भी चलाता हूँ— लेकिन, यह सब करके भी मैं बड़ी आसानी से छोटा आदमी और निकम्मा आदमी बना हुआ हूँ। इससे मुझे कोई दिक्कत नहीं होती।

फिर, बड़ा-आदमीपन क्या ? और वह है क्या जिसे 'काम' कहते हैं ?

एक किताब है, गीता। ऊपर के तमाम स-'काम' आदमी भी कहते सुने जाते हैं कि गीता बड़े काम की किताब है। मैं मूढ़-मति क्या उसे समझूँ। पर एक दिन साहस-पूर्वक उठाकर जो उसे खोलता हूँ, तो देखा, लिखा है, कर्म करो। ,कर्म में अकर्म करो।'

यह क्या बात हुई। करना अकर्म है तो वह कर्म में क्यों किया जाय ? और जब वह किया गया तो अकर्म कैसे रह गया ? जो किया जायगा वह तो कर्म है, उस कर्म को करते करते भी उसमें अ-कर्म कैसे साधा जाय ? और गीता कहती है—उस अकर्म को साधना ही एक है—वह परम पुरुषार्थ है।

होगा। हमारी समझ में क्या आवे ! दुनिया तो कर्म-युतों की है। आप कर्मण्य हैं—आप धन्य हैं। तब, क्या कृपा कर मुझ दयाराम को भी अपने कर्म का भेद बताएँगे ?

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०१ में ओझावालिया में हुआ। शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई और वहाँ से आपने 'साहित्य शास्त्राचार्य' की उपाधि प्राप्त की। संस्कृत के प्रकांड पंडित होने पर भी द्विवेदीजी ने हिन्दी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यों आप अनेक प्रान्तीय भाषायें भी जानते हैं। बहुत लम्बे अर्से तक शान्तिनिकेतन में आप हिन्दी साहित्य के प्रधानाध्यापक रहे और आचार्य क्षितिमोहनसेन तथा कवीन्द्र रवीन्द्र के निकट सम्पर्क में रहकर तुलनात्मक रूप में विविध भाषाओं के साहित्यों का अध्ययन किया। द्विवेदीजी के अध्ययन में भारतीय संस्कृति, पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, धर्म, ज्योतिष, साहित्य, सभी अंगों का समावेश है। साहित्यिक शोध के लिए दिशा-निर्देश करने की आप में अद्भुत क्षमता है। आपकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर आगरा विश्वविद्यालय ने आपको डी० लिट् की ऑनरेरी उपाधि प्रदान कर आपका सम्मान किया है। सम्प्रति आप हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। आपने लगभग एक दर्जन मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं।

निबंध लेखकों में द्विवेदीजी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। शास्त्रीय विवेचन तथा ठोस बौद्धिक चिन्तन की छाप जैसी आपके निबंधों में दृष्टिगत होती है वैसी अन्यत्र कम ही है। कविता की कननीयता या भावुकता का अभाव होने पर भी चिन्तन और मनन की पर्याप्त सामग्री उनमें रहती है। गवेषणा को आधार बनाकर वस्तु की विवेचना करना

आपकी पांडित्य-पूर्ण शैली की विशेषता है। विषय को विस्तार-पूर्वक, विशद रूप से प्रस्तुत करने में आपकी कला अधिक सफल होती है। इनके निबन्ध पढ़कर आचार्यत्व की छाप पड़ना स्वाभाविक है। आत्मीव शैली से व्यंग्य को स्थान देकर आप विषय को हृदयंगम कराने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी, आपकी विशेषता यह है कि आप किसी भी विषय पर लिखें— उसकी सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने का मोह संवरण नहीं कर सकते। कहीं-कहीं तो आपके निबंधों में इसी कारण विषयान्तर सा भी प्रतीत होने लगता है और विषय का प्रवाह तथा तारतम्य तक टूट जाता है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आप कोरी सूचनाओं पर ही बल देते हैं—सूचनाएँ देना आपका अभीष्ट नहीं, विषय की संभावित विस्तार-सीमाओं को स्पर्श करके उसे स्पष्ट और बोधगम्य बनाना ही आपका लक्ष्य रहता है। पाठक के लिए चिन्तन, मनन और ज्ञान-वर्द्धन की जितनी सामग्री आपके निबन्धों में रहती है उतनी बहुत कम हिन्दी-निबन्धों में मिलेगी।

भाषा संस्कृत-प्रधान होने पर भी अस्वाभाविक या कृत्रिम नहीं है। बंगला की अभिव्यंजना की भी छटा कहीं-कहीं देखने में आती है। उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी के शब्द विरल हैं किन्तु कहीं-कहीं देशज शब्दों का प्रयोग है। विचार-विवेचन के स्थल पर मिश्र-वाक्य और भाव-पुष्टि तथा मन्तव्य-स्थापना के अवसर पर सरल वाक्यों का प्रयोग रहता है। मुहावरे कम होने पर भी भाषा में चमत्कार, सौष्ठव और आकर्षन का रंचक-मात्र भी अभाव नहीं है। पांडित्य, अध्ययन और प्रतिभा तीनों का समवेत प्रभाव निबन्धों में देखा जा सकता है।

'अशोक के फूल' आपकी निबन्ध-शैली का एक सुन्दर निदर्शन है। इस निबन्ध में अशोक के फूलों को मेरु-दण्ड बनाकर लेखक ने भारतीय संस्कृति, साहित्य और जातीय-जीवन की मोहक झाँकी प्रस्तुत की है। विगत दो सहस्र वर्षों में भारतीय जन-जीवन में क्या-क्या परिवर्तन आये

और किस प्रकार हमारी सांस्कृतिक तथा धार्मिक चेतना में उलट-फेर हुआ इसका सूक्ष्म रूप से आभास इस निबन्ध में मिलता है। शैली में व्यक्तित्व की छाप इतनी गहरी है कि निबन्ध के पढ़ते ही द्विवेदीजी की प्रतिभा-समन्वित, विद्वत्तापूर्ण तस्वीर नेत्रों के सामने आ खड़ी होती है। भारतीय राजनीति के असंख्य परिवर्तनों के बावजूद भी अशोक के फूल के पीछे छिपी हमारी साहित्यिक तथा सांस्कृतिकचेतना का आभास लेखक ने बड़े कौशल से व्यक्त किया है। अशोक के फूल न तो कोरी कल्पना है और न उसके आधार पर वर्णित भारतीय संस्कृति की कथा-गाथा ही अचिरस्थायी और परिवर्तनशील है। अशोक के फूल के हमारे अक्षुण्य परम्पराओं का तारतम्य बताकर आज भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विविध रूपों का आभास देते हैं।

: १० :

अशोक के फूल

[श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी]

अशोक में फिर फूल आ गये हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों में कैसा मोहन भाव है! बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया उसके जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में और इसीलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहाँ था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भाँति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की

प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आलिङ्गनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ-गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कन्दर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की-त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया, आम कहाँ छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज़ थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या सो गई थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके!

लेकिन मेरे मानने-न-मानने से होता क्या है? ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही

सुझाया है कि गंधर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है तथापि है वह गन्धर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार यह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे। लेकिन कन्दर्प-देवता हार मानने वाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्धधर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शाक्त साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये—न जाने कितनी मानव-जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू-रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है उसीका अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जल कर राख हो गया और वामन-पुराण (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्न-मय धनुष टूटकर खण्ड-खण्ड हो धरती पर गिर गया। जहाँ मूठ थी वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और

चम्पे का फूल बन गया ! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्यदेश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई ! स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं !

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। इस कथा का रहस्य क्या है ? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं ? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हीं से मिले ?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं—यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुबेर, सोम, अप्सराएँ— यद्यपि बाद के ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं; तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्धसाहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गये हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तान-कामिनी होकर जाया करती थीं ! यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, साँची आदि में उत्कीर्ण मूर्त्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों

की स्त्रियाँ प्रायः नग्न हैं, केवल कटिदेश में एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ हैं?

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमें सब-कुछ आर्य-दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियों का संघर्ष हुआ! कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियां बाद में देवयोनि-जात मान ली गईं। पहला संघर्ष शायद असुरों से हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यों और राक्षसों से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षों से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियाँ थीं। भरहुत, साँची, मथुरा आदि में प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियाँ पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवासभूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसायटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम। परन्तु वे नाच-गान में कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओं की भाँति कृषिपूर्व-स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भाँति व्यापार-वाणिज्य-

वाली स्थिति में भी नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवतः इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्तीकाल में यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे। परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गन्धर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, वह मनोरंजक कथा है। पर यहाँ वह सब पुरानी बातें क्यों रटी जायें? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बड़ी अद्‌भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमें देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक-वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव' कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राज-घरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यमय वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल

हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ— नीचे हल्की रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास ! किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-संभार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अञ्जलि बखेर देती थीं। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है ? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है ? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है। बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो; परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये। साम्राज्य ढह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया।

मुझे मानवजाति की दुर्दम निर्मम धारा के हज़ारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न

जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है; पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है उतना उसका अङ्ग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन देवता का गर्व खण्डन किया है, धर्मराज के कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायगा, कौन जानता है। मनुष्य की जीवन-धारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी। जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायेंगी, कौन जानता है! मैं क्या शौक से उदास हुआ हूँ? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्पों

को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करने वाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो—"किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता-श्रवणार्पितः!"—परन्तु शाखाओं में लंबित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस से आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। मैं सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था वह लुप्त हो गई, धर्माचारियों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी वह वाष्प की भांति उड़ गई, तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी। उसके कुण्ठनृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया! पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गये। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आँधी थी। इसमें बौद्ध बह गये, शैव बह गये, शाक्त बह गये। उन दिनों 'श्री-सुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था! कौन

बतायगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तबक का हर फूल और हर दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है!

मगर उदास होना भी बेकार ही है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा ही हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहाँ बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहाँ, अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ। पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!